धर्म तत्त्व

लेखक

रावराजा रायबहादुर श्यामविहारी मिश्र
रायबहादुर शुकदेवविहारी मिश्र } मिश्रबंधु

मिश्रबंधुविनोद, हिंदीनवरत्न, भारतीय
प्राचीन इतिहास आदि के लेखक।

प्रकाशक

पं० प्रतापनारायण मिश्र

गोलागंज, लखनऊ

प्रथम संस्करण

२००० प्रतियाँ

मूल्य ॥

प्रकाशक
श्रीयुत पं० प्रतापनारायण मिश्र
१०९, गोलागंज
लखनऊ

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
अध्यक्ष गंगा-फ़ाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

धर्मतत्त्व की भूमिका

मल्लिनाथ ने संजीवनी टीका लिखने में लिखा कि "भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या विष मूर्छिता ।" उसी प्रकार आज कई शताब्दियों से हिन्दू-धर्म कुरुचि पूर्ण लाभैषणा के विष से मूर्छित समझ पड़ता है । हमारे यहाँ पढ़े-लिखे समझदार विद्वानों का पड़ता यदि जोड़ा जावे, तो दो-तीन प्रति सहस्र भी न बैठेगा । साधारण लोग धर्म में भी अच्छे-से-अच्छा सौदा चाहते हैं । एक गोता लगाकर वे सात जन्म के पापों से छुटकारा ढूँढ़ते हैं, मानो वर्णमाला-भर की पुस्तक से शास्त्री की योग्यता प्राप्त करनी माँगते हैं । जैसे बालमानस-पूर्ण "धर्मार्थी" भरे पड़े हैं, वैसे ही स्वार्थी उपदेशकों की भी कमी नहीं है । इन कारणों से हमारे हिन्दू-धर्म में मूर्ख मोहक वचनों की ऐसी भरमार हो गई है कि समझदार विद्वानों के योग्य कथन यहाँ हैं भी या नहीं, इस प्रश्न तक पर सन्देह उठने लगता है । इन्हीं कारणों से मोटिया धार्मिक वचनों को छोड़कर तथा चार आने में पाँच सै रुपये देनेवाले झूठे कथनों को सच्चा हिंदू-धर्म न मानकर हमने अपने यहाँ के सर्वमान्य प्राचीन ग्रंथों में वास्तविक हिंदू-धर्म की खोज की, तो श्रेष्ठ आदेश-रत्नों की भी कमी नहीं है, केवल उनके ख़रीदार जौहरियों तथा गुणग्राहकों की कमी है । हमसे कई विद्वानों ने कहा कि हिंदू-धर्म में रक्खा ही क्या है, जिसके लिये आप उसका गुणगान करते हैं ? हाँ, बुजुर्ग इसी मत को मानते आये हैं, और हम भी मानते ही जावेंगे; कुछ ईसाई थोड़े ही हुए जाते हैं, किंतु महाशयजी ! धार्मिक उच्चता का दम्भ आपके ग्रंथों से नहीं सिद्ध होता । ऐसे-ही-ऐसे सच्चे, विद्वान्, और समझदार धार्मिक खोजियों के लिये हमने यह धर्मतत्त्व का ग्रंथ लिखा है । इसमें प्राचीन सर्वमान्य ग्रंथों ही से प्रमाण दिए गए हैं, और आधारशून्य एक भी वचन अपनी ओर से नहीं मिलाया गया है । हिंदू-धर्म के अतिरिक्त संसार के अन्य महाधर्मों के भी तत्त्व कह दिए गए हैं, तथा समय-समय पर हमारे

भारतीय धार्मिक विचार कैसे रहे हैं, इस विषय पर भी वर्णन आ गया है। अंत में प्रायः दशोपनिषत् और गीता से १२० अवतरण भी जगदुत्पत्ति, प्रकृति, ईश्वर और आचार पर इकट्ठे कर दिए गए हैं। यदि सत्यनारायण के व्रत में माहात्म्य के स्थान पर यह १२० अवतरणों का संग्रह पढ़ा जावे, तो हिंदू-धर्म का मर्म प्रकट हो तथा विद्वानों को पाठ रुचिकर भी हो जावे। १२१ वाँ वाक्य कोई शास्त्रीय अवतरण न होकर हमारा परिणाम-मात्र है। इसमें लेखकों का कोई बुद्धि-वैभव न होकर केवल परिश्रम है। आशा है कि हमारे भद्रपुरुष इस छोटे-से ग्रंथ से अपने धार्मिक विषय पर कुछ साधार ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे। बहुत से हिंदू भाई हमारे ग्रंथों की ऐतिहासिक प्राचीनता सिद्ध करने ही में उनकी महत्ता समझते हैं। इतना जाने रहना चाहिए कि ईसाई-धर्म सन् १ एवं मुस्लिमधर्म ६२२ का है। नवीन उत्पत्ति के कारण इन महाधर्मों में कोई कमी नहीं समझी जाती। फिर भी समय संबंधी कथन इस ग्रंथ का मुख्यांश नहीं है। मुख्य बात उपदेशों के संकलन और प्रकटीकरण की है।

लखनऊ १९३५ } मिश्रबंधु।

शुद्धि-पत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२४	हा	हो
१०	४	जाता	किया जाता
१२	२३	अग्राहय	अग्राह्य
१३	१३	प्रजा	प्रज्ञा
१६,१७,२३	२१,२,३	अकृताब्यागम	अकृताभ्यागम
२६	११	सत्यकाम, जाबाल	सत्यकाम जाबाल
२८	११	विष्णोर्सिथतो	विष्णोर्स्थितो
३६,६३	१०,२०,२१	ऋत्वज	ऋत्विक्
४६	१०	शिशुपायन	शिंशुपायन
४६	१६	रामायण	रामायण के
४८	१४,१८	जूडाह्ज्म	जूडाइज्म
४८	२३	से प्रायः १०० वर्ष पूर्ववर्ती	के ज्येष्ठ समकालीन
५४	१६	जेरूजलम	जेरूपलम
५६	२ (नीचे से)	क्रुध	क्रुद्ध
६१	२२	हाने	होने

सूचीपत्र

धर्मतत्व पर आर्ष विचार

विषयारंभ

धर्म के विषय पर कोई कथन करना प्राय: मतभेद से खाली नहीं होता हमारी इच्छा आज यह है कि धार्मिक तत्व पर हमारे ऋषियों ने कैसे कैसे विचार उपस्थित कर रक्खे हैं, इस बात का कुछ संकेत पाठकों के लाभार्थ किया जावे। धर्म का मूल सांसारिक प्रेम पर आधारित है। धर्मी मनुष्य को स्वार्थ से कुछ दूर रहना चाहिए, तथा परोपकार की ओर साधारण पुरुषों से कुछ अधिक अग्रसर होना उचित है। यही आशय धार्मिक पुरुष अपने विषय में प्राय: समझते हैं तथा अन्य लोग भी उन से ऐसी आशा रखते हैं। फिर भी देखा गया है कि धर्म के कारण संसार में प्राय: मार-काट होती आई है, और धार्मिक विचारों से ही प्रभावित हो कर सैकड़ों लोगों ने इतरों पर अत्याचार किए हैं। ये बातें अब तक नहीं रुकी हैं। समझा जाता है कि धार्मिक झगड़े धर्मतत्व-अज्ञानजन्य हैं। इसी लिए इस विषय पर प्राचीन ऋषियों के विचार प्रकट करना उचित समझ पड़ता है। लोग धार्मिक विचार कई आधारों पर दृढ़ करते हैं। ईश्वरीय पुस्तकों, आर्ष कथन, गुरुओं, विद्वानों, पैग़म्बरों, वृद्धों, शिष्टों, ज्ञानियों, संतों, फ़क़ीरों आदि के कथनों या विचारों पर संसार में धार्मिक आदेश निश्चित किए गए हैं। संसार में बहुत अधिक संख्या में लोग इसी प्रकार अपने धार्मिक विचार स्थिर करते हैं। उन विचारों की दृढ़ता कभी कभी इस आधिक्य को पहुँचती है कि लोग अपने माने हुए सिद्धांतों से विपरीत मत-वादियों पर प्रहार तक करते आए हैं। हम समझते हैं कि जब अमुक सिद्धांत दृढ़ता-पूर्वक वेद, उपनिषत, त्रिपिटक, पुराण, बाइबुल, जेंदावस्ता,

तौरीत, कुरान आदि में लिखित है, तब उस में संदेह किया ही कैसे जा सकता है ? यदि इन पुनीत ग्रंथों में एक दूसरे से विपरीत सिद्धांत भी अंकित न होते, तो संसार बहुत बड़े झगड़ों से बच गया होता। फिर भी इन में विपरीत सिद्धांतों के कारण झगड़ा पड़ ही जाता है, और जो लोग अपनी बुद्धि से काम लेने की धर्म में आवश्यकता नहीं समझते, उन्हें भी विवश हो कर बुद्धि का सहारा लेना ही पड़ता है। हमारे भारत में वेद, उपनिषत्, त्रिपिटक, पुराण आदि के द्वारा समय समय पर विविध धार्मिक सिद्धांत सिखलाए गए हैं, तथा पश्चिमीय एशिया में उपरोक्त अन्य पुस्तकों द्वारा समय समय पर धार्मिक शिक्षा दी गई है। चीन में कानफ़्यूशियस तथा बौद्ध सिद्धांत काम करते आए हैं, तथा जापान में अब तो बौद्धमत बहुत अधिक चलता है, किंतु पहले शिंतोमत का मान था जिस के अनुसार सदसद्विवेकिनी बुद्धि के ही द्वारा धार्मिक आचरण स्थिर होता था। ग्रंथों, गुरुओं, ऋषियों आदि के कथनों में एक तो अनुगामी की बुद्धि की अवहेलना है, क्योंकि उसे अपना विचार न कर के इतरों के सहारे चलना होता है, दूसरे मत-पार्थक्य से विविध सिद्धांतों की सत्यता में संदेह उठने लगता है। हम तो अवश्य समझते हैं कि जब कोई सिद्धांत स्वयं वेद भगवान या उपनिषदों में प्रतिपादित है, तब उस में संदेह कैसा, किंतु उधर अन्य मतों के सद्धर्मी एवं पूर्ण-विश्वासी महाशयगण अपने अपने पूज्य सिद्धांत सामने लाते हैं, जिन की प्रतिकूलताओं से टंटे उठ खड़े होते हैं।

इन सब कारणों से आधारों को छोड़कर अपने विचारों का सहारा लेना पड़ता है। सब से पहिले सदसद्विवेकिनी शक्ति सामने आती है। प्रत्येक सज्जन स्वभावतः भलाई बुराई का भेद जान सकता है। कई साधारण बातों में तो यह बात चल जाती है, किंतु बहुतेरी ऐसी बातें आ उपस्थित होती हैं, जिन में फिर टंटा उठ खड़ा होता है। हमारा स्वभावज विवेक गोभक्षण के प्रश्न पर बहुत ही उत्कृष्ट तिरस्कार करता है। इसी प्रकार मुसलमानी विवेक शूकरमांस-भक्षण का नाम लेते ही अपमानित हो जाता है, किंतु इतर लोगों का विवेक इन साधारण बातों के प्रतिकूल कोई संदेह नहीं उपस्थित करता। ऐसी ही ऐसी

अन्य अनेकानेक स्थितियाँ हैं, जिन में विविध सच्चे धार्मिकों का सहज विवेक ग़ोता खा जाता है। इन कारणों से प्रकट होता है कि जिसे सहज विवेक समझते हैं, वह भी वास्तव में इतरों के विचारों से प्रभावित होने से धर्म की ऐसी अचूक साक्षी नहीं उपस्थित कर पाता जो सर्वमान्य हो।

तर्क और विश्वास

अब आगे बढ़ने से हम अपनी तर्क-शक्ति के सहारे से धार्मिक सिद्धांत खोजने पर विवश होते हैं। बहुतों का विचार है कि बिना विश्वास का कुछ अंश लिए धर्म स्थापित नहीं हो सकता। हमारा यह कहना है कि धर्मतत्व पर केवल विचारशक्ति से काम लेना चाहिए, किंतु संसार के सामने मानवशक्ति पंगु है ही, सो जहाँ अपनी अशक्तता आ जावे, वहाँ से आगे बढ़ने में बुद्धि-द्वारा स्थिर किए हुए सिद्धांतों ने जैसा मार्ग दिखलाया हो, उस के थोड़ा आगे भी मनुष्य तर्काश्रित विश्वास के सहारे जा सकता है। फिर भी उस में इतनी दृढ़ता नहीं आ सकती कि उस के विपरीत निश्चयवाले मनुष्य को हम मूर्ख, अधर्मी या दुष्ट कहें। विश्वास के लिए यही सहज सीमा है कि उस से कोई मनुष्य भले ही लाभ उठावे, किंतु उस के सहारे दूसरे पर अत्याचार करना अनुचित है। फिर भी संसार में ऐसे अत्याचार बहुत होते आए हैं। हिंदू मुसलमानों के झगड़ों का मूल कारण यही है कि वे लोग हम को मुशरिक (ईश्वर का साझीदार माननेवाले) तथा बुतपरस्त (प्रतिमा-पूजक) मान कर निंद्य समझते हैं, यद्यपि वास्तव में हम मुशरिक हैं भी नहीं। इसी प्रकार हमारे 'छांदोग्य' तथा 'बृहदारण्यक' उपनिषदों में एकाध स्थान पर मतभेद अथवा अज्ञान के कारण शिर गिरने के वर्णन आए हैं। गोस्वामी तुलसीदास भी कहते हैं—

सन्त शंभु श्रीपति अपवादा।
सुनिय जहाँ तहँ असि मरजादा॥
काटिय तासु जीह जु बसाई।
श्रवण मूँदि नतु चलिय पराई॥

अपने विश्वासों के कारण किसी की जिह्वा काट लेने का विचार करना प्रकट ही अनुचित है, किंतु धार्मिक विश्वास की अनुचित दृढ़ता से राह भूल कर स्वयं गोस्वामीजी ने ऐसा कथन कर डाला। याज्ञवल्क्य ने भी अज्ञान का दंड एक बार शिर कटवाने से दिया था। आजकल बीसवीं शताब्दी की सभ्यता इतनी बढ़ चुकी है कि अब ऐसे प्राचीन कर्मों का कथन ही एक प्रकार से उन प्राचीनों का अपमान करना समझा जा सकता है। यहाँ इन बातों का कथन उदाहरणार्थ हुआ है। प्रयोजन केवल इतना है कि विश्वासों के अधिकारों की अनुचित वृद्धि पापपूर्ण है। फिर भी सब से अच्छी बात यह समझ पड़ती है, कि इस विषय पर विश्वासों के मूलाधार के कथन हो जावें, जिस में कि विश्वासियों को स्वयं उन की सीमाओं का अनुचित विस्तार पसन्द न आवें।

ईश्वरवाद

धार्मिक विश्वासों में सबसे अधिक विवादग्रस्त विषय परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति आदि के संबंध में है। अवतारों, पैग़म्बरों, गुरुओं आदि के विषय में भी ऐसे ही झगड़े उठा करते हैं। अब हम इन्हीं विषयों पर तर्कपूर्ण ऐतिहासिक आर्ष विचार पाठकों के सामने रखते हैं। सब से पहले ईश्वर का विषय उठाया जाता है। इस पर 'न्यायकुसुमांजलि' का निम्न कथन सूत्र-रूप में कहा जाता है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।

इस सूत्र में परमात्मा-संबंधी तीन प्रमाणों का संकेत है। अर्थात्

कार्य

आयोजनधृत्यादेः

पदात्प्रत्ययः

पहला तर्क कार्यवाद है, अर्थात् जब कोई कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता और संसार भी एक महत्कार्य है, तब इस का भी कारण होना चाहिए। वही कारण परमात्मा है। इस में यह झमेला बैठता है कि यदि परमात्मा को भी कार्य मानें तो उस का कारण क्या है? 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में जब याज्ञवल्क्य ने परमात्मा को अंतिम कारण कहा और गार्गी देवी ने उस का भी

कारण पूछा, तब ऋषिवर कुछ अप्रसन्न हो कर बोले कि ऐसा प्रश्न करते जाने से तुम्हारा शिर गिर जावेगा, क्योंकि परमेश्वर तर्कसिद्ध नहीं है, वरन् शास्त्रों से जाना जाता है। इस प्रकार ऋषिवर ने परमेश्वर का विषय विश्वासमात्र पर रक्खा, और उसे तर्काश्रित न माना। 'कठोपनिषत्' में भी यमाचार्य ने इस विषय में तर्क की गति न मानी, किंतु तो भी इसे केवल विश्वास पर अवलंबित न करके शिष्टों के विचारगम्य बतलाया। उन्हों ने यह भी कहा कि प्राचीन विचारों पर (जिन में कार्यवाद भी था) लोग बहुत काल से संदेह प्रकट करते आए हैं। इस प्रकार कार्यवाद हमारे यहाँ 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में ही अशक्त हो गया, और 'कठोपनिषत्' में साफ़-साफ़ संदिग्ध कहा गया।

आयोजनधृतिवाद

आयोजन तथा धृति आदि का वाद अब तक चल रहा है। पंडितों का विचार है कि यदि यह माना जावे कि ईश्वर ने किसी समय संसार बनाया, तो उसके चित्त में इच्छा का अस्तित्व मानना पड़ेगा, जो एक दरिद्रता-गर्भित विचार है, क्योंकि इच्छा उसी वस्तु की करनी होती है जिस की अपने को आवश्यकता अर्थात् कमी हो। बिना कमी के केवल इच्छा का अस्तित्व एक नितांत अनावश्यक मामला होगा, मानों कोई चौंक-सा पड़ा हो। ईश्वर में इच्छा स्थापित नहीं की जा सकती। उधर बिना इच्छा के किसी समय में संसार का बनाया जाना असंभव हो जाता है। 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में इस विषय पर ऐसा कथन है, जो तर्कहीन हो गया है। 'छांदोग्योपनिषत्' में ईश्वरीय तप द्वारा संसारोत्पादन का कथन है। कुछ टीकाकार तप से हरकत, स्फुरण या संचरण का भाव निकालते हैं। यदि यह संचरण किसी एक समय में प्रारंभ हुआ माना जावे, तो इसके प्रतिकूल भी उपरोक्त तर्क का आरोप हो जाता है, किंतु यदि इसे आदि-रहित मानें, अर्थात् ऐसा समझें कि प्रकृति सदैव थी और उस में संचरण-शक्ति सदैव थी, तो कोई दोष नहीं आता।

परमाणु

संसार में हम दो प्रकार की प्रकृति देखते हैं, एक जड़ और दूसरी चैतन्य। 'गीता' (१३,१९) में आया भी है कि

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादीवुभावपि

अर्थात् सजीव तथा निर्जीव दोनों प्रकार की प्रकृति अनादि है। जड़ शक्ति हमारे सामने तीन प्रकार से आती है। कुछ वस्तुएँ वायु के समान उड़ने वाली हैं, कुछ जल के समान सामने बहनेवाली और अन्य ठोस। उड़ने-वाली वस्तुएँ हमें स्पर्शशक्ति द्वारा ज्ञात होती हैं, और द्रव पदार्थ देख भी पड़ते हैं। इन दोनों का कोई रूप नहीं है। वायु तो रूप से नितांत पृथक् है, और द्रव पदार्थ जिस बर्तन में भरे हों, उसी के अनुसार देख पड़ते हैं। ठोस वस्तुएँ रूपाश्रित हैं। हमारा जो कुछ ज्ञान है वह पंचेंद्रिय द्वारा प्राप्त होता है। हमने बहुत से ऐसे यंत्र बना रक्खे हैं जिन के द्वारा पंचेंद्रिय की शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, किंतु इस प्रकार प्राप्त ज्ञान भी है अंत में पंचेंद्रिय-जन्य ही। इन तीन प्रकार की वस्तुओं के अतिरिक्त चौथा ईथर भी तर्क द्वारा वैज्ञानिकों ने माना है। संभवतः यही हम लोगों का आकाशतत्व हो। यह माना गया है कि ज्योति, बिजली आदि इसी के द्वारा चलती हैं। ठोस वस्तुओं का भी कोई एक रूप नहीं होता, वरन् एक समय वे हम को एक ही एक रूप में देख पड़ती हैं। सोना चाहे जिस अलंकार, मुद्रा आदि के रूप में हो, है अंत में सोना ही। उस का एक रूप हम नहीं दृढ़ कर सकते। उस का सोनापन रूपाश्रित न होकर गुणाश्रित है, अर्थात् उस में कुछ ऐसे गुण हैं, जिन के कारण हम उसे सोना कहते हैं। यदि सोने के किसी भाग को तोड़ते चले जावें, तो अंत में एक ऐसा छोटा भाग पावेंगे, जिस के खंड नहीं हो सकते। इसी सूक्ष्मतम भाग को परमाणु कहते हैं। अपने यहाँ पंचतत्वों का कथन था, किंतु विज्ञान ने अब प्रायः सत्तर तत्व निकाले हैं, और समय के साथ तत्व समझे जाने वाले कुछ पदार्थ अन्य तत्वों के मिश्रण भी कभी-कभी ज्ञात होने लगते हैं। संसार में जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सब इन्हीं तत्वों से उत्पन्न हैं। कुछ वस्तुएँ तत्व हैं और कुछ मिश्र।

घटक

इसी प्रकार जब हम छोटे से छोटा चैतन्य शरीर ढूँढने लगते हैं, तब अंत में घटक पर पहुँचते हैं। विज्ञान कहता है कि संसार का प्रत्येक

चैतन्य शरीर या तो घटक है या उस का समूह । उंगली के एक छोटे से खंड में भी लाखों घटक होते हैं । इसी प्रकार घास की एक दूब में घटकों का हाल है । घास-पात से लेकर मनुष्य-पर्यंत जीवित शरीरों की एक धारा है जो घटकों से बनती है। जड़ पदार्थों के लिए जो परमाणु है, वही जीवितों के लिए घटक[1] है । विज्ञान यह बतला सकता है कि घटक में कौन-कौन से तत्व हैं, किंतु उन तत्वों से वह घटक बना नहीं सकता । निर्जीव तथा सजीव पदार्थों में यही भेद है । निर्जीव पदार्थ विज्ञान के वश में बहुत कुछ हैं, किंतु सजीव की उत्पत्ति सजीव शरीर ही से हो सकती है । निर्जीव पदार्थ तथा विज्ञान जीवित शरीर का हनन कर सकते हैं, तथा उसे जीवन-वृद्धि में सहायता पहुँचा सकते हैं, किंतु बिना सजीव की सहायता के उन को उत्पन्न नहीं कर सकते । निर्जीवता और सजीवता के इस गढ़े को विज्ञान अभी पार नहीं कर सका है । कुछ वैज्ञानिकों का विचार है कि किसी प्रकार के संपीड़नों से निर्जीव वस्तु सजीव हो जाती होगी । इस कथन में कोई निश्चय नहीं है । अतएव हम अब तक यही देखते हैं कि प्रकृति में हमें परमाणु और घटक-मूलक निर्जीव और सजीव पदार्थों के दो समूह देख पड़ते हैं, जिन के एक दूसरे पर विविध प्रभाव पड़ते हैं, और जिन को एक दूसरा उत्पन्न नहीं कर सकता ।

अज्ञेयवाद

अब यह प्रश्न उठता है कि ये दोनों परमाणु और घटक क्या हैं ? इन दोनों का कोई एक रूप नहीं है, किंतु प्रत्येक परमाणु तथा घटक अनेक गुणों से युक्त है । किसी परमाणु या निर्जीव वस्तु का रूप, रंग, स्वाद, बोझ आदि हम कुछ नहीं जानते । एक दशा में वही वस्तु मीठी लगती है और दूसरी दशा में कड़ुई । बोखार आ जाने से अथवा अन्य दशाओं में स्वाद बदल जाता है । जो वस्तु एक को भाती है, दूसरा उसी से घृणा करता है । हमारी जिह्वा पर किसी वस्तु द्वारा जो रासायनिक प्रभाव पड़ता है, उसी को हम

---

[1] Cell.

स्वाद कहते हैं। जिह्वा की विविध दशाओं में यह क्रिया बदलती रहती है। अतएव स्वाद किसी वस्तु में नहीं है, वरन् उस के परमाणुओं का विविध जिह्वाओं पर जैसा रासायनिक प्रभाव पड़ता है, वैसा ही स्वाद उन जिह्वाओं द्वारा समझ पड़ता है। विविध जीवधारियों की जिह्वाओं की जैसी दशा होगी, वैसे ही विविध स्वाद उन्हें एक ही वस्तु के ज्ञात होंगे। तोल, समुद्रतट पर एक होगी, समुद्र के पेंदे पर दूसरी और पहाड़ पर तीसरी। फिर पहाड़ों की विविध ऊँचाइयों पर भी एक ही वस्तु को तोल विविध होगी। अतएव तोल उस वस्तु में नहीं है, वरन् विविध दशाओं में गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर वह वस्तु जैसा प्रभाव डालती है, वैसी ही तोल हम उस में समझते हैं। विविध प्रकार की ज्योतियों में एक ही वस्तु में अनेक रंग देख पड़ेंगे। इसी प्रकार विविध दूरियों पर एक ही वस्तु के अनेक रूप समझ पड़ेंगे। कोई लेखनी आधी पानी में डुबो देने से उसी स्थान से वह मुड़ी हुई समझ पड़ेगी। इन कारणों से दार्शनिकों ने वस्तुओं के विषय में अज्ञेयवाद का सिद्धांत चलाया है, अर्थात् किसी वस्तु को हम जान नहीं सकते, वरन् हमारा ज्ञान उस की विविध दशाओं में विविध शक्तियों पर सीमित है। प्रयोजन यह है कि हम केवल इतना जान सकते हैं कि अमुक दशाओं में हमें वह अमुकामुक प्रकार की समझ पड़ेगी। निदान निर्जीव प्रकृति को हम शक्ति समूह के रूप में ही जानते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। प्रत्येक वस्तु में कुछ कड़ाई, कुछ तोल, कुछ रूप, कुछ रंग आदि हैं। इन्हीं बातों से हम विविध वस्तुओं को निर्धारित करते हैं। वास्तव में वह क्या है, सो हमारे ज्ञान से बाहर है। हमारा ज्ञान प्रत्येक परमाणु को हमें शक्ति समूह के रूप में दिखलाता है। वर्तमान वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों के ज्ञान की सीमा अब तक यहीं तक पहुँचती है कि प्रत्येक अणु विविध शक्तियों का केंद्र मात्र है। कुछ लोग इन्हीं को 'इआंस'[१] या 'इलेक्ट्रंस'[२] भी कहते हैं। सजीव प्रकृति भी इन्हीं परमाणुओं से बनी है,

---

[१] Ions

[२] Electrons

केवल उस में सजीवता विशेष है। घटक में कुछ परमाणुओं के अतिरिक्त सजीवता भी है जो उसे उन वस्तुओं से पृथक् करती है, जो जीव के अतिरिक्त उस में पाई जाती हैं। सजीवता भी एक शक्ति ही है, सो हम निर्जीव तथा सजीव दोनों प्रकार की प्रकृति को शक्ति-समुदाय के रूप में पाते हैं।

संसारोत्पादन

अब अपने आयोजनधृतिवाद की डोर हम फिर से उठाते हैं। हम ऊपर देख आए हैं कि इच्छा का मानना परमात्मा में अभावात्मक विचार लाकर उस में कमी स्थापित करता है। हम यह भी देखते हैं कि परमाणु और घटक हमारे सामने ऐसे हैं, जिन में गुरुत्ताकर्षण, संसक्ति[1], केशाकर्षण[2], स्पंदन आदि की अनेक शक्तियाँ हैं। इन्हीं के संमिश्रण से उन्नति करता हुआ यह संसार बना है। परमाणु पहले से थे और उन के प्रभाव से उन्नति करता हुआ संसार जब जीवधारण के योग्य हुआ, तब घटकों की उत्पत्ति हुई, जिन से इतर सजीव देहधारी बने। 'छांदोग्योपनिषत्' का विचार ऊपर लिखा जा चुका है कि परमात्मा के तप द्वारा यह संसार बना। प्रयोजन यह लिया जा सकता है कि परमाणुओं में जो विविध प्रकार की शक्तियाँ सदा से थीं, उस से जो घटनायें नियमानुसार घटीं, उन्हीं के कारण पृथिवी, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि असंख्य गोले पहले बने और वे ज्यों-ज्यों ठंडे होते गए और वायु आदि से परिवेष्टित होते गए त्यों त्यों उन में जीवधारियों के रहने योग्य स्थान निकलते आए। सूर्य में अभी इतनी गर्मी है कि वहाँ कोई जीवधारी रह नहीं सकता। शनैश्चर और बृहस्पति की पूरी गर्मी अभी दूर नहीं हुई है। हमारे चंद्रमा में वायु ही नहीं है, सो वहाँ न तो जल है और न जीवधारी हैं। वहाँ यदि कान के पास तोप दागी जावे, तो भी उस का शब्द न सुन पड़े,

---

[1] यदि ब्लाटिंग का एक अंश पानी में छुवावें, तो पानी सोखा जाकर ऊपर चढ़ेगा। यह संसक्ति का उदाहरण है।

[2] किसी वस्तु का चूर चूर होकर गिर न जाना वरन् एक रूप में सब अणुओं को साधे हुए रहना केशाकर्षण का उदाहरण है।

क्योंकि शब्द ले जाने वाली वायु वहाँ है ही नहीं। बिना आक्सीजन के जल नहीं हो सकता, जिस से जीवधारी भी नहीं पनप सकते। मंगल और शुक्र की ऐसी दशा है कि वहाँ जीवधारी रह सकते हैं। मंगल में नहरों तक का होना ख़याल जाता है। प्रयोजन यह है कि परमाणुओं की संचरणशक्ति से ही संसारोत्पत्ति की नींव पड़ी, सो यही शक्ति जगदुत्पत्ति की जननी मानी जा सकती है। परमाणुओं की विविध शक्तियों के क्रम-पूर्वक काम करने से ही समय पर यह संसार तैयार हो सका है। यदि उनमें अक्रम होता, तो इतनी उन्नति असंभव थी। विज्ञान हम को बतलाता है कि यह संसार आज भी उन्नति कर रहा है। अब यह प्रश्न उठता है कि इतने भारी संसार को कौन धारण कर के नियमानुकूल चलाता है?

संसार की महत्ता

पृथ्वी की दो चालें हैं, अर्थात् एक तो वह अपनी कील पर घूमती है और दूसरे सूर्य का चक्कर लगाती है। पृथ्वी की परिधि प्रायः २५,००० मील है। पृथ्वी दिन रात में एक बार अपना यह चक्कर पूरा करती है, सो एक घंटे में प्रायः १००० मील इस प्रकार चलती है जिस से दिन रात होते हैं। इस चाल में वह एक मिनट में प्रायः १६$\frac{२}{३}$ मील जाती है। पृथ्वी साल में एक बार सूर्य का चक्कर लगाती है, जिस से ऋतुपरिवर्तन होता है। इस चाल में वह एक सिकंड में कई मील जाती है। हमारे सौर-परिवार में केवल नव ग्रह हैं। उन में सूर्य पृथ्वी से कई हज़ार गुना बड़े हैं, बृहस्पति प्रायः १३०० गुना और शनैश्चर इस से भी अधिक। ये सब सूर्य की प्रदक्षिणा करते हैं। इन सब को लिए हुए सूर्य एक सिकंड में कई सौ मील चलते हुए अरबों-खरबों वर्षों से न जाने कहाँ जा रहे हैं? इस का किसी को पता ही नहीं है। संभवतः वे भी सपरिवार किसी अन्य सूर्य की प्रदक्षिणा करते हों। हम को जो कुछ कहने-सुनने का ज्ञान है, वह सौर-परिवार ही का। यह परिवार केवल नवग्रहों से ही संबद्ध है। उधर व्योम में लाखों नक्षत्र हैं। वे सब नक्षत्र अपने अपने लोक में सूर्य हैं, और उनके भी हमारे जैसे सौर-परिवार हैं। ये सब आकाश में सुखपूर्वक नियमानुसार विचरण करते हैं और टकरा नहीं जाते। ज्योति एक सिकंड में लाखों

मील चलती है। ऐसे भी नक्षत्र हैं, जिनकी ज्योति हमारी पृथ्वी तक २,००० वर्षों से भी अधिक समय में पहुँचती है। संसार के सब लोकों को देखते हुए सैकड़ों मन अनाज में पृथ्वी एक मटर के समान है। इधर देखिए, कि पृथ्वी ही पर असंख्य पदार्थ प्रस्तुत हैं जिन के विषय में हमारी बुद्धि पंगु है। एक एक कान, हाथ, नाक, आँख, हृदय आदि में इतनी भारी कारीगरी है कि समझ में नहीं आती। प्रकृति कभी पुनरुक्ति नहीं करती। अरबों-खरबों घास के दलों को भी लीजिए तो कोई दो दल पूर्णतया समान नहीं मिलेंगे। इतना बड़ा संसार ऐसे दृढ़ नियमों के साथ अरबों-खरबों सालों से उन्नति करता चला जा रहा है, किंतु कोई गड़बड़ नहीं पड़ता। भूचाल, ज्वालामुखी आदि के जो छोटे-मोटे मामले हमें गड़बड़ समझ पड़ें, वे भी न तो वास्तविक अक्रम हैं, न गड़बड़। इतना भारी क्रम स्थापन न तो आप ही आप हो सकता है न किसी अंध शक्ति के द्वारा। संसार हमारे सामने एक महती सेना के रूप में दिखाई पड़ता है। केवल सेना को नियम-पूर्वक क़वायद करते देख कर ही हम किसी नियंता सेनापति का दृढ़ अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि बिना नियंता के नियम नहीं हो सकते। आप से आप अंध-शक्ति के द्वारा इतना भारी कार-बार नहीं चल सकता। इसे धारण करनेवाला तथा नियम पर चलानेवाला कोई नियंता अवश्य है। इसी को धृत्यायोजनवाद[१] कहते हैं, जो हमारे यहाँ 'कठोपनिषत्' में साफ़ साफ़ मंत्र नं० ११४ तक कथित है। 'गीता' (१५, १३) में भी यह तर्क आया है, यथा,

गामाविश्यच भूतानि धारयाम्यहमोजसा।

अर्थात् मैं पृथ्वी में प्रवेश करके सामर्थ्य से समस्त भूतों को धारण करता हूँ।

परमात्मा की सत्ता का इस से बढ़कर प्रमाण आज तक नहीं दिया गया है।

---

[१] Design.

तीसरा वाद

तीसरा प्रमाण[1] जो हमारे ऋषियों ने दिया है, वह पदात्प्रत्ययवाद कहा जाता है, अर्थात् यदि हमें थोड़े का अनुभव हो तो उस से पूर्णता का विचार आता है। हमारा सांसारिक अनुभव अपूर्णता का है, सो प्रकट है कि हमारे अपूर्ण अनुभव के आगे कोई पूर्ण नियंता संसार का है। वही परमात्मा कहा गया है। यह एक दार्शनिक विवेचन है, जिस के विषय में पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। कुछ अधिक कथन की आवश्यकता नहीं है। अनंतता के दो प्रत्यक्ष उदाहरण काल और स्थल हैं।

परमात्मा

ईश्वर या परमेश्वर-संबंधी इतने विचार अपने यहाँ भगवान गौतम बुद्ध से पूर्व स्थिर हो चुके थे। परमात्मा की सिद्धि इस प्रकार प्रमाणित करके हमारे ऋषियों ने उस के विषय में विचार भी किए हैं। सब से पहले हमारे सामने वैदिक विचार आते हैं। वहाँ इंद्रादि ३३ देवताओं से प्रार्थनाएँ पाई जाती हैं, जिन में सांसारिक सुखों की याचना, यज्ञादि के सहारे से की गई है। फिर भी इतना कहा गया है कि इन देवताओं में ईश्वरीय शक्ति से बाहर कोई वैभव नहीं है। वह ईश्वर कैसा है, यह 'ऋग्वेद' में विशेषतया नहीं कथित है, किंतु 'यजुर्वेद' में वह शिव के रूप में कल्याणकर माना गया है। आगे चल कर उपनिषदों में उस का वर्णन अन्वय-वाची कथनों से न होकर व्यतिरेक-वाची विचारों से हुआ है, अर्थात् वह अस्पृश्य, अपरतंत्र, अचल ('बृहदा-रण्यक'), अकाय, अव्रण, अस्नाविर (नस नाड़ियों के परे) ('ईशोपनिषत्') अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अनादि, अनंत ('कठोपनिषत्'), अच्छाय (छाया रहित क्योंकि वह स्वयं सब जगह है), अशरीर, अलोहित (रंग-रहित) ('प्रश्नोपनिषत्'), अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, अपाणिपाद, अमूर्त, अज, अप्राण, विरज, निष्कल, अमन, अक्षर

[1] Ontological

('मुंडकोपनिषत्') आदि है। यहाँ तक ऐसे कथन हुए हैं कि वह क्या या कैसा नहीं है। अब यह भी कहा जाता है कि उन ऋषियों ने उसे कैसा बतलाया है। 'छांदोग्य उपनिषत्' का कथन है कि प्रारंभ में ईश्वर केवल एक था। उस ने अग्नि उत्पन्न की जिस से जल हुआ और जल से पृथ्वी बनी। 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में आया है कि जिस समय न दिन था न ज्योति, न सत्ता, न अभाव, बस अन्धकार मात्र था, उस काल केवल शिव विद्यमान था। वह न तो पुरुष है, न स्त्री, न लिंगहीन व्यक्ति। प्रकृति माया है और महेश्वर मायी। यजुर्वेद में शिव ईश्वर एवं कल्याणाकर है। परमात्मा है शुद्ध, आँख की आँख, कान का कान, मन का मन आदि ('ईशोपनिषत्'), नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्म, भूतयोनि, शुभ्र, रुक्मवर्ण, अचिंत्यरूप, सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर, ज्योतिषांज्योति, तमसः पर, परतः पर ('मुण्डकोपनिषत्'), अयमात्माब्रह्म, चतुष्पात्, सप्तांग, और एकोनविंशतिमुख ('माण्डूक्योपनिषत्')। चार भागों में वैश्वानर, तैजस, प्रज्ञा, तथा शिवमद्वैत का कथन है, सप्तांग में अग्नि घर, चंद्रसूर्य नेत्र, वायु प्राण, वेद वाणी, दिशा श्रोत्र, आकाश नाभि, पृथिवी पाँव, एवं एकोनविंशति मुख में पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय, पंच प्राण, तथा (अन्तःकरण चतुष्टय) मन बुद्धि चित्त और अहंकार का। प्रकट है कि अभावात्मक वर्णन बहुत श्रेष्ठ तर्कयुक्त है, किंतु समझाने वाले विचारों में मत-भेद असंभव नहीं। अंगों आदि के कथन पूर्णतया तर्कात्मक न होकर कुछ कुछ विश्वासात्मक भी हैं। यहाँ तक निर्गुण ब्रह्म का कथन हुआ है। इस के आगे परमात्मासंबंधी विचार यथास्थान लिखे जावेंगे।

प्रकृति

प्रकृति अर्थात् वस्तु या द्रव्य क्या है, इस के विषय में उपनिषदों में कथन तो आए हैं, किंतु बहुत प्रकट-रूप से यह नहीं कहा गया है कि वह क्या है ? छानबीन करने से ऐसे बहुतेरे मंत्र मिल सकते हैं, जिन से द्रव्य शक्ति का केंद्र मात्र है, ऐसे विचार पुष्ट हो सकें। फिर भी बहुत प्रकट-रूप से इस विषय पर कथन अभी तक नहीं देख पड़े हैं। अपने यहाँ 'छांदोग्य उपनिषत्' में

पृथ्वी जल-संभूत मानी गई है। आजकल का विचार यह है कि परमाणुओं के भिड़ने से अग्नि उत्पन्न हुई और धीरे धीरे परमाणुओं के आपस में मिलते मिलते बहुत से गोले बने, जो जलते रहे। सूर्य अब भी इसी दशा में है। बृहस्पति और शनैश्चर भी आधे ही बुझे हैं। पृथ्वी के भीतर अग्नि भरी है। जो गोले बुझते बुझते वायु से परिवेष्टित हो गए, और जल उत्पन्न कर सके, उन में जीवधारियों की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पर ऐसा ही होना सिद्ध समझा जाता है, तथा मंगल में भी जीवधारी हैं, ऐसा दृढ़ अनुमान किया जाता है। जगदुत्पत्ति हमारे शास्त्रों में प्रकट-रूप से इस प्रकार वर्णित हम को अब तक नहीं मिली। संभवतः किन्हीं मंत्रों में निकल आवे। अब तक यही समझ पड़ता है कि द्रव्य शक्ति का केंद्र है, संसार शक्ति-स्वरूप है, और परमात्मा को तो हम जान नहीं सकते, किंतु उस का जितना अस्तित्व अपनी समझ में आता है, वह शक्तिप्रकाशन के ही द्वारा। अतएव यद्यपि ईश्वरीय शक्तियाँ सांसारिक शक्तियों से बहुत बढ़कर हैं, तथापि है ईश्वर भी प्रधानतया शक्ति-स्वरूप। अब यह प्रश्न उठता है कि सांसारिक शक्तियाँ ईश्वरीय शक्तियों के बाहर हैं या अंदर ? इस का प्रकट उत्तर यही मिलता है कि सभी शक्तियाँ ईश्वरीय शक्तियों के अंतर्गत हैं और शक्तिमात्र को धारण किए हुए वह स्थित है। 'केनोपनिषत्' में यह कहा भी गया है कि सामर्थ्य ईश्वर के अतिरिक्त किसी में भी नहीं है। समझ भी यही पड़ता है। सुतराम् हमारे उपनिषदों में द्रव्य और शक्ति की एकता का कथन माना जा सकता है, क्योंकि वे जगदुत्पत्ति ईश्वर से ही मानते हैं और सांसारिक सत्ता उसी पर अवलंबित समझते हैं। द्रव्य का गुण समुदाय होना जैन-ग्रंथों में साफ़ साफ़ कथित भी है, क्योंकि "गुण समुदायो द्रव्यं" का कथन उन के शास्त्रों में आता है। यह कोई नया सिद्धांत नहीं है, वरन्, औपनिषत्-ज्ञान से ही उपलब्ध हुआ है। श्रीभगवद्गीता अ० १०, श्लो० २० में इस प्रकार है—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

भूत शब्द में सजीव और निर्जीव सभी वस्तुएँ आ जाती हैं, सो यहाँ भगवान

का सजीव तथा निर्जीव प्रकृति से अभेदत्व कथित है, और यह प्रकट हुआ है कि उन की आत्मा अर्थात् मुख्यांश भगवान ही है।

शरीरवाद

अब जीवात्मा का विचार शेष रहता है। यह प्रश्न है, कि जीवात्मा है या नहीं और यदि है तो उस की सत्ता ईश्वरीय सत्ता के संबंध में कैसी है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अपने यहाँ सब से पुराने शरीरवादी पृथु के पिता राजा वेन थे जो स्वायंभुव मनु के वंशधर थे। स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुप और वैवस्वत नामक सात मन्वंतर अपने यहाँ हुए हैं। वेदों के ऋषि चाक्षुप मन्वंतर से चलते हैं। पहले पाँच मन्वंतर वैदिक समय से पूर्व के हैं। उन में भी स्वायंभुव सब से पहला है। उन की २९ पीढ़ियों ने भारत में शासन किया था। उन्हीं में से वेन थे जो प्रथम शरीरवादी कहे गए हैं। उन के विचार लोगों को इतने बुरे लगे कि उन्हीं की प्रजा ने उन का वध कर डाला। वेन से पूर्व केवल ऋषभदेव के संबंध में धार्मिक कथन आते हैं। जैन लोग उन्हें अपना पहला तीर्थंकर समझते हैं। उस काल हिंदूमत स्वयं नहीं बना था सो उस से विरुद्धवादी जैनमत का इतना पुराना होना समझ में कम आता है। उस काल के विचारों के आधार भी अप्राप्त हैं, केवल पौराणिक कथन इतना मिलता है कि ऋषभदेव पहले तो ठीक थे किंतु बुढ़ापे में अनर्गल बकने लगे। इस से उन के किसी विरुद्ध मत प्रकट करने की ध्वनि प्राप्त होती है। पीछे से चाक्षुप मन्वंतर में प्रसिद्ध राजा हिरण्य-कशिपु शरीरवादी हुए। उन के पौत्र विरोचन (प्रह्लाद के पुत्र) शरीरवादी थे, ऐसा 'छांदोग्य उपनिषत्' में लिखा है। हयग्रीव भी वेद-विरोधी शरीरवादी कहे गए हैं। चार्वाक् ने पहले-पहल पूर्ण बल के साथ शरीरवाद कहा और वेद भगवान् की निंदा की। यथा—

> यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत।
> दह्यमानेषु देहेषु पुनरागमनं कुतः॥

फिर भी चार्वाक् का मत किसी दर्शन-शास्त्र पर अवलंबित न होने, वरन्

कारणहीन कथन मात्र होने से संसार पर कोई कहने योग्य प्रभाव न डाल सका। जीवात्मा के प्रतिकूल कोई विशेष तर्क न हुआ और लोग प्रायः उस का अस्तित्व स्वयंसिद्ध-सा मानते रहे। 'छांदोग्य उपनिषत्' में आया है कि विरोचन ने दैत्यों में शरीरवाद चलाया। उस में यह भी कथन है कि इंद्र तथा विरोचन दोनों ने साथ ही साथ कई वर्ष तपस्या कर के प्रजापति से शरीरवाद की शिक्षा पाई। अनंतर विरोचन तो संतुष्ट होकर चले गए और इस का प्रचार करने लगे, किंतु इंद्र को इस में संदेह हुआ और उन्हों ने और भी अधिक तप कर के उन्हीं प्रजापति से वास्तविक शिक्षा प्राप्त की, जो शरीर-वाद के प्रतिकूल थी। इसी उपनिषत् में 'तत्त्वमसि' (वह तू है) का वचन आया है। इसकी व्याख्या वहाँ कई भागों में की गई है, जिस से प्रकट-रूप से दिखलाया गया है कि शरीर का मुख्यांश जीवात्मा है। यह बात कई उदाहरणों द्वारा समझाई गई है। स्वामी शंकराचार्य का मत है कि इस ऋचा से यह भी प्रयोजन निकलता है कि जीवात्मा वास्तव में परमात्मा से अभिन्न है। किसी किसी का इस अभिन्नतावाले मत से विरोध भी है और ऊपरी विचार से इस विरोध में कुछ सार भी समझ पड़ता है, यद्यपि शंकराचार्य ही का विचार ठीक होगा, ऐसा मानना चाहिए। जीवात्मा इस मंत्र से चाहे परमात्मा से अभिन्न न माना जावे, तो भी इस अभिन्नता में कोई संदेह नहीं उठ सकता, क्योंकि 'बृहदारण्यक' में यही अभिन्नता बहुत ही प्रकट-रूप से 'अयमस्मि' (यह मैं हूँ) के वचन द्वारा कथित है। अतएव 'तत्त्वमसि' का शंकरवाला अर्थ यदि अग्राह्य हो, तो भी यह अभिन्नता औपनिषत् मत से निकल ही आती है। 'बृहदारण्यक' में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कृतनाश और अकृताभ्यागम के तर्कों से जीवात्मा की सत्ता प्रमाणित की है। इस का प्रयोजन यह है कि यदि मृत्यु के पीछे जीवात्मा को किसी रूप में इस जन्म के भले बुरे कर्मों का फल न मिले, तो कृतनाश का दोष लगता है, क्योंकि ऐसी दशा में कर्मों का फलाफल नष्ट हो जावेगा। इसी प्रकार जब इस जन्म में सभी मनुष्यों को बिना किसी इस जन्म वाले प्रयत्न के महत्ता या लघुता के अनेकानेक साधन मिलते हैं, तब यदि इस बात का कोई पौर्वजन्म-भव कारण न सोचें, तो न्यायी परमात्मा

के राज्य में अकृताध्यागम का दोष लगता है, अर्थात् यह सिद्ध होता है कि यहाँ बिना कुछ भला बुरा किए ही व्यक्ति अच्छे अथवा बुरे फल पाता है।

जीवात्मा की सत्ता

जीवात्मा की सत्ता का 'न्यायकुसुमांजलि' में 'संघात् परार्थत्वात्' का और तर्क दिया गया है। प्रयोजन यह है कि प्रत्येक द्रव्यमय संघ अपने ही लिए न होकर किसी दूसरे के लिए होता है। ऐसी दशा में शरीर को जीवात्मा से हीन मानने से वह इस नियम के प्रतिकूल हो जावेगा। जीवात्मा-संबंधी तर्क आगे दिए जावेंगे। अभी हम प्राचीन ऋषियों के विचार मात्र यहाँ लिखते हैं। 'कठोपनिषत्' कहता है कि जीवात्मा न पैदा होता, न मरता है, वरन् अज, नित्य, शाश्वत और पुराण है, जो न मारता न मरता है। शरीर रथ है, आत्मा रथी। विज्ञानवान्, मनस्क तथा शुचि पुरुष वह पद पाता है, जहाँ से फिर उत्पन्न नहीं होता। आत्मा के भीतर नाना (एक से अधिकपन) नहीं है। मोक्ष न होनेवाले जीवात्मा ज्ञान-कर्मानुसार दूसरा शरीर पाते हैं। 'प्रश्नोपनिषत्' का कथन है कि आदित्य प्राण (भोक्ता) है, और चंद्रमा तथा जगत रयि (भोग्य) है। यही दोनों अमूर्त एवं मूर्त हैं। मूर्त भोग्य है। पुरुष से छाया की भाँति आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है। आत्मा प्राण में व्यापक है तथा शरीर में भी। मन के शुभाशुभ कर्म से वह शरीर में आता है। जैसा चित्त होता है, वैसा शरीर मिलता है। षोडश-कल पुरुष जीवात्मा है। 'मुंडकोपनिषत्' में निम्न मंत्र आया है—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति ॥ (नं० ४४)

अर्थात् जीवात्मा परमात्मा सखा हैं जो कभी पृथक् नहीं होते। वे शरीर रूपी वृक्ष में व्यापक हैं। उन में से एक पिप्पल के फल को खाता है, और दूसरा उस का निरीक्षणमात्र करता है। परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने वाला अविद्या की गाँठ से छूट कर मोक्ष पा जाता है। 'मांडूक्योपनिषत्' में 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) का वचन आया है। 'मुंडकोपनिषत्' द्वितीय

खंड के नवें मंत्र में आया है कि बुरे मनुष्य नीच योनियों में गिरते हैं, अर्थात् किसी पशु आदि योनि में उत्पन्न होते हैं।

जीवाणु

इस विषय पर वर्तमान समय ने भी बड़े गंभीर विचार उपस्थित किए हैं। ऊपर कहा गया है कि जीवित प्रकृति का आदिम-रूप घटक है। जैसे मनुष्य में मानसिक तथा दैहिक क्रियाएँ होती हैं, उसी प्रकार छोटे से घटक में भी ये दोनों बातें मूल-रूप में पाई जाती हैं। घटकों का केवल इतना कार्य है कि अनुकूल परिस्थिति में बढ़कर वे एक नया तथा अपने से भिन्न शरीर बना सकते हैं। स्वतंत्र घटक एक जीवधारी है, और मिश्र दूसरे प्रकार का। प्रत्येक घटक एक प्राणी है। बड़े शरीरों के एक-एक अंग में अरबों-खरबों घटक होते हैं। यदि किसी की उँगली या ऐसा ही कोई दूसरा अंग काटकर फेंक दीजिए, तो वह शरीर से पृथक् होकर भी कुछ काल तक उछले कूदेगा, अर्थात् जीवित रहेगा। इन घटकों में हम जीवाणु मान सकते हैं। ये जीवाणु शरीर से पृथक् हो कर भी कुछ काल जीवित रहते हैं, सो मानना पड़ेगा, कि बड़े शरीर में असंख्य जीवाणु रहते हैं। मनुष्य का वीर्य-कीट अनुकूल परिस्थिति में २४ घंटों तक जीवित रह सकता है। ऐसी दशा में उस में भी जीवाणुओं का अस्तित्व मानना पड़ेगा। अतएव प्रकट है कि शरीरों के अवयवों में ही जीव नहीं है, वरन् प्राकृतिक नियमों से उस से बाहर जाने वाले शरीरों में भी जीव है। अब तक हम ने प्रत्येक भारी शरीर में असंख्य-प्राय जीवाणु पाए हैं। हमारे चलने-फिरने, खाने-पीने, खेलने-कूदने, आदि में सहस्रों जीवाणुओं का निधन होता रहता है, तथा भोजन आदि के द्वारा शरीरवृद्धि से ऐसे ही नवीन जीवाणुओं का जन्म होता रहता है। बीमार हो कर जब कोई दुर्बल हो जाता है, तब उस में से असंख्य जीवाणु-गर्भित घटक मर चुकते हैं, तथा उस के फिर हृष्टपुष्ट होते होते असंख्य नवीन जीवाणु-गर्भित घटक उत्पन्न हो चुकते हैं। अतएव यद्यपि मनुष्य एक-सा जीवित रहता है, तथापि हर समय में, हर दशा में, उसके शरीर में जीवन-मरण का बाजार खूब गर्म रहता है।

जीवात्मा

अब यह प्रश्न उठता है कि हमारे शरीरों में असंख्य जीवाणुओं के अतिरिक्त कोई एक जीवात्मा भी है या नहीं? असंख्य जीवाणुओं की उपस्थिति तो विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणित करता है, किंतु एक जीवात्मा के संबंध में मौनावलम्बी हो जाता है। मनुष्य अपने एकत्व का सहज ज्ञान रखता है। यह तो हम बहुत समझाने बुझाने से जान पाते हैं कि हमारे शरीर में असंख्य जीवाणु हैं, किंतु एक जीव का ज्ञान हमें सहज है। इस के प्रतिकूल जीवाणु-वादियों का यह कथन है कि हमारे लिए ऐसा अनुभव स्वाभाविक है। हमारे सब अवयव एक दूसरे को सहायता देते हुए पूरा एक शरीर बनाते हैं, जिस से हमें एकत्व का अनुभव स्वाभाविकमात्र है। उन का कहना है कि इस अनुभव मात्र से जीवात्मा का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। हमारे जितने कर्म हैं, वे अनेकानेक अवयवों द्वारा मस्तिष्क की आज्ञा से होते रहते हैं। शरीर एक घड़ी के समान है, तथा जीवन उस की चाल है। हमारा जीवन प्रधानतया मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस, तथा गुर्दों के सहारे पर चल रहा है। इन में से किसी एक के नष्ट होने पर यह चल नहीं सकता। भोजन से रुधिर, मज्जा, मांस, वीर्य-कीट आदि धीरे-धीरे अनेकानेक क्रियाओं द्वारा बनते चले जाते हैं। वह कौन अवसर आता है, जब वीर्यकीट में जीवात्मा प्रवेश करता है? मानवशरीर से एक बार इतने वीर्यकीट बाहर निकलते हैं, जिन से संसार भर की सारी युवतियाँ गुर्विणी हो सकती हैं। यदि उन सब कीटों में जीवात्मा है तो आत्माओं की संख्या का पता ही न लगेगा। इस का उत्तर यही समझ में आता है कि ऐसे असंख्य शरीरांशों में जीवात्मा न मानकर हम जीवाणु मात्र मानते हैं। हमारे शास्त्रों ने भी शरीरांशों में जीवात्मा नहीं माना है। जिस शरीर में स्वतंत्र जीवन चलाने की शक्ति हो, उसी में जीवात्मा माना जा सकता है, वीर्यकीट आदि शरीरांशों में नहीं। एक यह भी प्रश्न उठता है कि गाय, घोड़े, हाथी आदि में जीवात्मा है या नहीं, क्योंकि यदि उन का काम बिना जीवात्मा के चल जाता है, तो हमारा क्यों नहीं चलता? इसी प्रकार वृक्ष, साग, घास आदि में भी जीवात्मा का प्रश्न उठता है। हमारे

शास्त्रकारों ने उन में न केवल जीवात्मा माना है, वरन् यहाँ तक कहा है कि बुरे काम करने से मानुष-जीवात्मा भी उन में जा सकता है। अतएव हमारे विचारों के प्रतिकूल उपरोक्त तर्क कोई आपत्ति नहीं उपस्थित करता। इस बात के मान लेने से इतना झंझट अवश्य पड़ता है कि वर्षा के आरंभ होते ही अरबों-खरबों घास के पौधे, मच्छड़ आदि के द्वारा असंख्य जीवात्माओं के मानने से उन के अस्तित्व कुछ उपहासास्पद लगने लगते हैं। फिर भी तार्किक दृष्टि से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि जीवात्माओं की गणना में संकुचन मानने की कोई आवश्यकता नहीं समझ पड़ती। अपने यहाँ कहा ही गया है कि—

लख चौरासी योनि भँझाये।
बड़े भाग मानुष तन पाये॥

आपत्तियाँ

एक यह भी आपत्ति उठाई गई है कि जब गन्ने बाँस आदि में एक एक पोढ़ की गाँठ से नए पेड़ होते हैं, तो क्या प्रत्येक गाँठ में जीवात्मा है? इस का उत्तर यह है कि गाँठों की दशा बीजों के समान है, जो पृथ्वीगर्भ आदि में पहुँच कर अन्य वस्तुओं से मिल कर अनुकूल परिस्थिति में जीवात्मा-युक्त शरीर उत्पन्न करते हैं। एक यह भी गड़बड़ पड़ता है कि यदि कोई केचुवा उचित स्थान पर काटा जावे, तो दो शरीर हो जाते हैं और वे दोनों अलग अलग केचुवे हो कर जीते हैं। इस घटना से यह आपत्ति निकलती है कि क्या केचुवे में दो जीवात्मा थे जो काटने पर एक एक खण्ड में चले गए। एक जीवात्मा के प्रतिकूल यह सब से बड़ा तर्क समझ पड़ता है, किंतु यह भी जीवात्मवाद का घातक नहीं है। जीवाणुवाद तो ठीक माना ही जा सकता है, किंतु वह जीवात्मवाद का सहायक है, प्रतिद्वन्द्वी नहीं। हम ऊपर देख आए हैं कि घटक भी एक से दो होता है और उस की संख्या-वृद्धि का यही एक नियम है। इधर केचुवे की संख्या-वृद्धि के दो नियम देख पड़ते हैं, एक तो साधारण प्रकार से और दूसरा काटने से। एक या दो शरीरों से अन्य शरीर

उत्पन्न हुआ ही करते हैं। यदि किसी शरीर में जीवात्मा है तो सब में है। पसीने, जंतुओं के सड़ने आदि अनेक प्रकार से नवीन शरीर बना करते हैं। उन सब में जीवात्मा कैसे और कब प्रवेश करता है, इस बात का जानना या न जानना उस की सत्ता के प्रतिकूल नहीं है। यदि हम शरीर में जीवात्मा पाते हैं, तो उस के प्रवेश का प्रकार या समय एक अनावश्यक प्रश्न है। यदि बतलाना ही पड़े, तो कहा जा सकता है कि जिस काल कोई नवीन स्वच्छन्द शरीर बनता है, उस काल उस में जीवात्मा का प्रवेश माना जा सकता है।

अन्तःकरण चतुष्टय

इस प्रकार जीवात्मा के प्रतिकूल जितनी आपत्तियाँ उठाई जा सकती या गई हैं, उन में कोई सार नहीं समझ पड़ता। अब इतना प्रश्न अवश्य रह जाता है कि उस का अस्तित्व माना ही क्यों जावे? जीवात्मा के अनुकूल अन्तःकरण चतुष्टय का सब से बड़ा प्रमाण है। यह चतुष्टय है मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। यद्यपि इस का कथन थोड़ा बहुत अन्य शरीरों के विषय में भी हो सकता है, तथापि मनुष्य के संबंध में इस का सर्वोत्कृष्ट प्रकाश होने से हम यह विवरण मनुष्य ही को लेकर उठावेंगे। घड़ी में चाल अवश्य है, किंतु वह अहंकार नहीं रखती। उस को अपनी सत्ता का बोध नहीं है। मानव-अंग भी अहंकार नहीं रखते, वरन् पूरा मनुष्य आत्माभिमानी होता है। मृत शरीर आत्माभिमानी नहीं होता, किंतु उस के कितने ही अंग कट जावें, जब तक वह जीवित है, तब तक अहंकार (अपने सब से पृथक एक होने का विचार) बना ही रहेगा। सब अंगों के भिन्न होने पर भी एकत्व का यह भाव क्या है, सो विचारने योग्य है। अपने को एक कौन समझता है? जीवात्मवादियों का कथन है कि आत्मा ही अहंकारी है। उन के प्रतिकूल विचार वाले कहेंगे कि यह काम मस्तिष्क का है। उन का कहना है कि अभ्यास के कारण मनुष्य अपने को एक मानता है, क्योंकि वास्तव में वह एक है भी। केवल इतना कहना जीवात्मवाद का खंडन नहीं है। मस्तिष्क शरीर का स्वामी अवश्य है; क्योंकि सारे अंग-प्रत्यंग उसी की आज्ञा से काम करते हैं। यदि किसी अंग से संबद्ध मस्तिष्क का अंश अशक्त हो जावे, तो वह

अंग भी अशक्त हो जावेगा। फिर पूरी आत्मीयता का बोध मस्तिष्क क्याकर करता है ? वह भी तो एक अंगमात्र है। सोचने की शक्ति उस के बाहर है। इस अंतिम वाक्य का पूरा समर्थन चतुष्टय के इतर अंगों से होगा।

स्मरण शक्ति ऐसी है, जिस का समर्थन केवल शरीरवाद नहीं कर सकता। 'गीता' (१५-१५) में 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' का वचन आया है, अर्थात् स्मृति, ज्ञान और तर्क की स्थिति पुरुष से है, केवल शरीर से नहीं। कहा जाता है कि घटनाओं से मस्तिष्क पर रेखाएँ बनती जाती हैं। उन की जितनी बार पुनरावृत्ति होती है, वैसे ही तत्सम्बंधी रेखाएँ गहरी होती जाती हैं, और उसी गहराई से स्मरणशक्ति को बल मिलता है। यहाँ तक हम भी मानते हैं, किंतु इस वाद से विदित यह होता है कि मस्तिष्क पर की रेखाएँ एक प्रकार की पुस्तक-सी तैयार करती हैं। प्रश्न यह उठता है कि कोई पुस्तक तो अपने को पढ़ नहीं सकती, वरन् उस का पढ़ने वाला चाहिए। ऐसी दशा में घटनाओं का स्मरण करना केवल मस्तिष्क का काम नहीं है, क्योंकि वह तो एक पुस्तक के समान है। विना उस के पढ़ने वाले जीवात्मा के स्मरण-शक्ति का आधार नहीं मिलता। ऐसा भी देखने में आया है कि लोगों ने अपने विगत जीवन की घटनाओं को बतला दिया है और उन के पुराने घरों आदि के भेद, जिन्हें उन्हों ने इस जन्म में नहीं देखा था, उन के कहे के अनुसार ठीक उतरे हैं। भूत-प्रेतादि के सम्बंध में अनेक दृढ़ घटनाएँ भी सामने आती हैं। इन बातों से जीवात्मा का अस्तित्व निकलता ही है, किंतु इन्हें न मानने से भी केवल स्मरण-शक्ति जीवात्मा की सत्ता प्रमाणित करती है। इसी प्रकार बुद्धि तथा चैतन्यता के कार्य केवल मस्तिष्कवाद से दृढ़ नहीं होते। हम लोग इन्द्रियों से थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त कर के विचार-बल से बड़े बड़े निष्कर्ष निकालते हैं। यह बल केवल एक मांसपिंड अर्थात् मस्तिष्क में नहीं हो सकता। इस के लिए जीवात्मा की आवश्यकता है। शेष शरीर का स्वामी मस्तिष्क है और उस का स्वामी जीवा-त्मा। स्मरण, बुद्धि, चैतन्यता, अहंकार, मनश्चांचल्य आदि की शक्ति केवल मस्तिष्क पर आधारित नहीं हो सकती। 'माण्डूक्योपनिषत्' में आत्मा १९ मुखों वाला माना गया है। इन में से ५ ज्ञानेंद्रिय, और ५ कर्मेंद्रिय मस्तिष्क को सहा-

यक हैं, पंच प्राण सारे शरीर के और अन्तःकरण चतुष्टय मस्तिष्क के द्वारा जीवात्मा के। 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में याज्ञवल्क्य ने कृतनाश तथा अकृताभ्यागम से भी जीवात्मा का समर्थन किया है, अर्थात् यदि मरण के पीछे और जन्म के पूर्व जीवात्मा न हो, तो किए हुए कर्मों का फल नष्ट होता है, तथा विना कुछ किए ही इस जन्म में मनुष्य को भली या बुरी स्थिति मिलती है, जिन बातों से संसार में अन्याय का दोष स्थापित होता है। हमारे शास्त्रों से जीवात्मा के समर्थन में जितने प्रमाण मिलते हैं, वही सब अब तक दिए गए हैं। केवल घटकों आदि के कथन हम ने उपनिषदों में नहीं पाए हैं।

निर्गुणवाद में शंकाएँ

निर्गुणवाद का यहाँ तक वर्णन महात्मा गौतमबुद्ध के पूर्व अपने यहाँ हो चुका था। संहिता-भाग में यज्ञों आदि के सहारे इंद्रादि ३३ देवताओं से सांसारिक सुखों की वृद्धि माँगी गई, किंतु वैभव एक ईश्वर में माना गया। इसी प्रकार के भाव पारसियों के प्राचीन ग्रंथ जैंदावस्ता में भी थे। इस से संहिता का बहुत कुछ विचारसाम्य है। पीछे हमारे औपनिषत्काल में यज्ञादि तो होते रहे, किंतु ज्ञानवृद्धि से ऐसा समझ पड़ने लगा कि जब शक्ति केवल परमात्मा में है, तब अशक्त इंद्रादि देवताओं में क्या महत्ता है? इस प्रकार उन की महिमा घटने लगी। 'केनोपनिषत्' में अग्नि, मरुत् और इंद्र की हेयता और शक्ति-शून्यता प्रकट हुई हैं, तथा उमा देवि के सामने वे अज्ञानी थे। संहिता में ३३ देवताओं की ऐसी निंदा नहीं है। 'छांदोग्योपनिषत्' में विरोचन इंद्र के शत्रु थे। उन दोनों ने शत्रुता छोड़कर ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रजापति के आसन पर तपस्या की और इंद्र ने उन से अधिक तप कर के पूरा ज्ञान प्राप्त किया। पहले इंद्र में यह ज्ञान न था। इस प्रकार के कथन संहिता-भाग में नहीं मिलते। अतएव प्रकट है कि संहिता-काल का मत औपनिषत्काल में बदलने लगा। ज्ञानवृद्धि से यह जान पड़ा कि परमात्मा संसार का नियंता है, जिस का मुख्य रहस्य हम नहीं जान सकते। अब लोगों को समझ पड़ने लगा कि जो परमात्मा केवल नियम-स्वरूप है और हम से कोई विशिष्ट निजी संबंध नहीं रखता, उस की भक्ति ही क्या की जावे? माना कि उस के

वैभव से सारा संसार स्थिर है और विना उस के जगत क्षण भर चल नहीं सकता, फिर भी किस ने अपनी उत्पत्ति की प्रार्थना की थी ? यदि सारा संसार न रहेगा तो हम भी न रहेंगे। स्थितिमात्र से भक्ति का स्रोत नहीं उमड़ता। इस के लिए विशेष प्रेम आदि की आवश्यकता है। मानव-प्रकृति अंत में मानवमात्र है, दैवी नहीं।

अनीश्वरवाद

ऐसे विचारों के उठने से समय पर नवीन दर्शनों की स्थापना होने लगी। महर्षि कपिल ने सांख्यशास्त्र की रचना करके केवल २५ तत्वों के सहारे संसार की सृष्टि बतलाई। आपने परमात्मा को ही असिद्ध माना। 'ईश्वरासिद्धे प्रमाणाभावात्' (प्रमाण के न होने से ईश्वर असिद्ध है) के से वचन चलने लगे। पूर्वमीमांसावादी महर्षि जैमिनि भी अनीश्वरवादी थे। इन दोनों के कारण हमारे शास्त्रों में दार्शनिक-रूप से अनीश्वरता का प्रादुर्भाव हुआ। ये दोनों ऋषि ईसा से पूर्व की आठवीं शताब्दी वाले यास्क के पूर्ववर्ती थे। बृहस्पति सब से पुराने अनीश्वरवादी कहे गए हैं। इस बात से पंडित समाज में बड़ी खलबली मची। तब महर्षि गौतम और कणाद ने न्याय और वैशेषिक रच कर ईश्वरवाद के पक्ष को दृढ़ किया, तथा बादरायण व्यास और पतंजलि ने उत्तरमीमांसा तथा योगशास्त्र बनाए। ये व्यास पांचवीं शताब्दी बी० सी० के निकट हुए थे और पतंजलि दूसरी शताब्दी बी० सी० में। मैकडानल का मत है कि आदि में न्याय और वैशेषिक अनीश्वरवादी थे और पीछे से ईश्वरवादी हुए। सांख्य, योग तथा वेदांत के सिद्धांत 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में मिलते हैं। पूर्वमीमांसा अनीश्वरवादी हो कर भी वेदों की महत्ता मानता हुआ उन पर पांडित्य-पूर्ण विचार करता है तथा शरीरवाद के खंडन में भी प्रवृत्त है, किंतु वेदों का अनादित्व नहीं मानता। उधर गौतम ईश्वर को मानते हुए उन की सृष्टि-शक्ति को नहीं मानते। पूर्वमीमांसा कर्मकांडी है और उत्तरमीमांसा ज्ञानकांडी।

गौतमबुद्ध

ऐसे विचारों के बीच महात्मा गौतमबुद्ध तथा महावीर तीर्थंकर के

जन्म हुए। इन दोनों महात्माओं ने प्राचीन विचारों का तीव्रता से खंडन किया तथा वेदों की महत्ता को न माना। बुद्ध भगवान ने ईश्वर को भी न मानकर केवल कर्म को प्रधानता रक्खी, और अपने बौद्धमत में पहले-पहल बुद्ध, धर्म और संघ नामक त्रयी को स्थापित किया। इन के मत में 'बुद्धं शरणं गच्छामि', 'धर्मं शरणं गच्छामि', 'संघं शरणं गच्छामि' का महामंत्र चला। महावीर तीर्थंकर ने भी अपने जैनमत में ईश्वर को तो न माना, किंतु तीर्थंकरों को ईश्वर के ही समान समझा। उत्तरी भारत में बौद्धमत का प्रचार अच्छा हुआ तथा जैनमत उतना नहीं चला, किंतु दक्षिणी भारत में उस का कुछ-कुछ चलन हुआ और अन्यत्र और भी कम। अतएव देखा जाता है कि निर्गुण ब्रह्मवाद पूर्णतया तार्किक हो कर भी साधारण लोगों की कौन कहे, स्वयं कपिल, जैमिनि और गौतमबुद्ध से महात्माओं तक को संतुष्ट न कर सका। इन महात्माओं में विचारशैथिल्य अथवा स्वार्थपरता के दोष स्थापित नहीं हो सकते। तो भी इन्हों ने निर्गुण ब्रह्मवाद से ऊब कर अपने शास्त्रों में उस का स्थापन ही अनावश्यक समझा। फिर भी जब यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वरवाद का तर्क निर्बल है या इन महानुभावों में बुद्धिबल की कमी थी, तब यही मानना पड़ेगा कि इन्हों ने इस निर्गुणवाद की संसार में चलने की संभावना कम देखी होगी, इसी से अन्य प्रकार के मत चलाए। उसी समय जापान में शिंतो मत चलता था और चीन में महात्मा कान्फ्यूशियस ने अपना मत चलाया। आप वास्तव में धार्मिक गुरु न हो कर समाजशास्त्री थे, किंतु समय पर धार्मिक गुरु माने गए, और इन का मत बौद्धधर्म के साथ अब तक चीन में चल रहा है।

सगुणवाद

जब हिंदुओं ने देखा कि शुद्ध तर्कवाद के कारण हमारा ईश्वरवाद ही संसार से जाता है, तब उन्हों ने उस के साथ सगुणवाद का प्रचार किया। सूरदास ने लिखा है कि

> रूपरेखरसरंग जुगुति बिनु निरालंब मन चकित धावे।
> सब बिधि अगम बिचारहि ताते सूर सगुन लीला पद गावे॥

श्रीभगवद्गीता में पहले-पहल पूर्ण बल के साथ सगुणवाद का प्रादुर्भाव हुआ। उस में मूर्तिपूजन का कथन तो न आया, तथा गंगा, जमुना एवं तीर्थ-स्थानों का भी वर्णन न हुआ, किंतु ईश्वर में प्रतीकत्व मिला कर 'गीता' ने उसे सर्वसाधारण की भक्ति के योग्य बनाया। गंगाजी की महत्ता तो 'गीता' में मान्य है, किंतु उन में स्नान से पुण्य आदि का कथन नहीं है। बल तो 'गीता' सगुणवाद पर देती है, किंतु कहती निर्गुणवाद भी है। अंत में इतना कह देती है कि सगुण और निर्गुण दोनों वाद श्रेष्ठ हैं, किंतु सगुणवाद सुगम होने से मनुष्यों के लिए शीघ्रता से फलप्रद है। अतएव 'गीता' में बादरायण व्यास ने निर्गुण का मान रख कर संसार के विचारानुकूल सगुणवाद का स्थापन किया। अब पौराणिक आचार्यों के नाम अधिकता से आने लगे और उपनिषदों के आचार्य पिप्पलाद, यम, सत्यकाम, जाबाल आदि के कथन लुप्तप्राय हो गए। इस का यह प्रयोजन नहीं है कि 'गीता' ने इन आचार्यों का तिरस्कार किया। जहाँ तक उन के मत लोक में चल सके, वहाँ तक 'गीता' ने उन्हें चलाया, किंतु सगुणत्व से ही ईश्वर का मान संभव देख कर उसे अधिकता से अपनाया। औपनिषत् ऋषियों के नाम छोड़ने का यह कारण हुआ होगा कि वे खुले-खुले सगुणवाद को अशुद्ध कहते थे, अतएव उन के अधिक वर्णन करने से उन के शुद्ध मतों की समीक्षा भी करनी पड़ती। इसी से गीता ने उन के नाम छोड़ कर कुछ सिद्धांतों मात्र को लिया। संभवतः अन्य प्रकार से लोक में ईश्वरवाद संभव न था। 'गीता' उन्हीं आचार्यों के पक्ष की थी, किंतु सब धन जाता देख कर उस ने आधा तो रख ही लिया। फिर भी लोक का बल सगुणवाद पर विशेष था। अतएव समय के साथ हमारे धर्म में सगुणत्व बढ़ता और निर्गुणत्व कम होता गया। औपनिषत्काल-पर्यंत अपने यहाँ त्रिमूर्ति या अवतारों के विचार न थे। शिव तो 'यजुर्वेद' ही में परमात्मा कहे गए और 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में भी उन का ऐसा ही कथन हुआ, किंतु ब्रह्मा केवल देवताओं में पहले उत्पन्न माने गए (ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, विश्वस्यकर्ता, भुवनस्य गोप्ता—मुंडक) स्वयं ईश्वर नहीं। इसी प्रकार विष्णु वेदों के तैंतीस देवताओं में एक तथा उपेंद्र (इन्द्र से कम) माने गए, और उपनिषदों में वे देवताओं में सर्वश्रेष्ठ तो हुए

किंतु प्रायः ईश्वर नहीं। अब बौद्धों की त्रयी का मान देख कर हिंदुओं ने भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश को त्रिदेव कह कर ईश्वर के तीन भाव माने, अर्थात् उत्पादक, पालक और विनाशक। धीरे-धीरे भावों से ये व्यक्ति हो गए और पुराणों में विष्णु के शिव से युद्ध भी हुए। अवतारों का भी कथन बौद्धकाल-पर्यंत न आया। औपनिषत्साहित्य का इन देवताओं के विषय में पौराणिक से कितना भेद है, यह इन दोनों के मुख्य विचार मिलाने से प्रकट होगा।

परिवर्तन

औपनिषत्काल चलता है सूत्रकाल के पूर्व तक, तथा सूत्रकाल प्रायः आठवीं दशवीं शताब्दी बी० सी० से पाँचवीं शताब्दी बी० सी० तक रहता है। वास्तव में बौद्धकाल से पूर्व का साहित्य औपनिषत्-विचारों पर चला है और पीछे का पौराणिक सिद्धांतों पर। यद्यपि बौद्धमत अशोक के समय तीसरी शताब्दी बी० सी० से धर्म के रूप में चलने लगा और इस के पूर्व केवल संप्रदाय था, तथापि इस का समाज पर प्रभाव भगवान बुद्धदेव के समय से ही बड़ी महत्ता के साथ पड़ा। इसी से हिंदुओं को बुद्धदेव के समय से ही अपने औपनिषत्-विचारों में ऊँची से ऊँची शुद्धता होते हुए भी परिवर्तन आवश्यक समझ पड़ा। जैसे महाभारत-काल के द्वैपायन व्यास ने एक से चार वेद करके तथा इन का एवं इतिहास का मुख्य-मुख्य शिष्यों में विभाजन करके वैदिक साहित्य में एक नया युग सा उपस्थित कर दिया था, उसी प्रकार पाँचवीं शताब्दी बी० सी० में बादरायण व्यास ने हिंदूधर्म की नौका डूबती देख कर उत्तरमीमांसा तथा गीता रचकर प्राचीन हिंदूधर्म का एक नवीन सर्वमान्य संस्करण उपस्थित कर दिया। हमारा पौराणिक समय इसी काल से शंकराचार्य-पर्यंत (आठवीं शताब्दी ईसवी) चलता है, और तब तर्कवाद का आरंभ होता है। बौद्धकाल इसी बीच में धर्मरूप में स्थापित हो कर बैठ जाता है, किंतु बादरायण व्यास द्वारा स्थापित पौराणिक मत समय के साथ बल पकड़ता जाता है। इस बल में अद्य-पर्यंत अणुमात्र भी त्रुटि नहीं आई है। अब त्रिदेव आदि के संबंध में औपनिषत् एवं पौराणिक साहित्य का अंतर दिखलाया जाता है।

प्रजापति

संहिता में ईश्वर को प्रजापति, विश्वकर्मन्, हिरण्यगर्भ, स्कंभ आदि नामों से पुकारा गया है। रुद्र शिव के ८ नाम थे, ४ कल्याणकर तथा ४ भयानक। 'शतपथब्राह्मण' और 'कौशीतकी उपनिषत्' में लिखा है कि रुद्र को ये आठों नाम प्रजापति ने दिए। 'यजुर्वेद' एवं 'अथर्ववेद' के समय से शिव ईश्वर हो गए तथा प्रजापति का वर्णन कम होने लगा। 'छांदोग्य उपनिषत्' में हम प्रजापति को केवल आचार्य के रूप में पाते हैं। वे इंद्र और विरोचन को ब्रह्मविद्या सिखलाते हैं। अन्य उपनिषदों में भी इन के कथन हैं, किंतु ईश्वरता के संबंध में नहीं। 'शतपथब्राह्मण' में प्रजापति ही मत्स्य, कच्छ और वाराह थे। 'विष्णुपुराण' में भी ये तीन अवतार प्रजापति ही के हैं। 'दुर्गासप्तशती' में "सनाभि कमले विष्णोर्स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः" का कथन है, जहाँ प्रजापति ब्रह्मा माने गए हैं। धीरे-धीरे प्रजापति लुप्त होते गए यहाँ तक कि पुराणों में एक मनुष्य (दक्ष) ने प्रजापति का पद पाया। उन के अभिमान से रुष्ट होकर महादेव ने उन का विनाश कर डाला और उसी के साथ प्रजापति भी लुप्त हो गए।

ब्रह्मा

चारों वेदों (संहिता) में ब्रह्मा नहीं हैं। 'शतपथब्राह्मण' और मनु में कहा गया है कि ब्रह्मा उस सोने के अंडे से हुए जिसे ईश्वर ने बनाया था। जल में विचरण करने के कारण वे नारायण कहलाए। अतएव यद्यपि नारायण पीछे से विष्णु का नाम हुआ, तथापि यहाँ ब्रह्मा ही नारायण हैं। वाल्मीकीय 'रामायण' में जल में पृथिवी बनी और उसी में स्वयं सत्तात्मक ब्रह्मा हुए। उन्हों ने वाराह बन कर पृथ्वी को ऊँचा किया। 'लिंगपुराण' में भी यही वाराह हैं। 'मुंडकोपनिषत्' ब्रह्मा को देवताओं में पहले होने वाला कहता है, और 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' इन्हें आदिपुरुष बतलाता है। अतएव अभी तक ब्रह्मा परमात्मा नहीं है। यह बुद्धपूर्व का साहित्य है। पीछेवाले पौराणिक साहित्य में परमात्मा के तीन भावों में सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हैं। जब अवतार

आदि की आवश्यकता होती थी, तब देवता पहले इन्हीं की शरण जाते थे। तपस्वियों को वरदान भी प्रायः यही देते थे, और इन के मतानुसार काम किए जाने या कहने से विष्णु या शिव प्रसन्न होते थे। पितामह के रूप में ये अब तक हमारी मुख्य ब्रह्मत्रयी में प्रतिष्ठित हैं, किंतु पूजन इन का मुख्य-रूप में नहीं होता, जैसा कि शैव तथा वैष्णव संप्रदायों के प्रभाव से उन दोनों देवताओं का होता है। ब्रह्मा के मंदिर भी बहुत कम हैं। जहाँ तक ज्ञात है, इन का केवल एक मंदिर पुष्कर (अजमेर) में है।

वेदों का कुछ वर्णन

अब आगे चलने के पूर्व वेदों का कुछ वर्णन किए देते हैं, जिस से पाठक हमारे विचारों को सुगमतापूर्वक समझ सकें। 'ऋग्वेद' हमारा प्राचीनतम साहित्य है। 'सामवेद' में प्रायः अष्टमांश नवीन है, और शेष 'ऋग्वेद' से आया है। 'यजुर्वेद' ऋक् से चौथाई होगा, और उस से हजार पाँच सौ वर्ष पीछे प्रारंभ होकर उस के पीछे 'यजुर्वेद' के प्रायः ५०० वर्ष पीछे तक बनता भी रहा। 'अथर्ववेद' ऋक् से बहुत थोड़ा पीछे प्रारंभ होकर उस के पीछे 'यजुर्वेद' के प्रायः समान ही समय तक चलता रहा। आकार में यह 'ऋग्वेद' से थोड़ा ही छोटा होगा तथा 'सामवेद' उस का प्रायः आधा होगा। हमारे पास चारों वेदों के जो अनुवाद हैं, वे प्रायः २८५० पृष्ठों के हैं। तिलक महाशय 'ऋग्वेद' का प्रारंभ-काल ४००० बी० सी० के निकट से मानते हैं, विल्सन ३५०० बी० सी० से, हाग २५०० बी० सी० से तथा मैक्स मुलर १५०० बी० सी० से। जो प्रकार यहाँ कहा गया है, वह ऐतिहासिक माना जाता है। बहुतेरे प्राचीन प्रथानुयायी पंडित ऐसे कथनों से वेदों का अपमान समझते हैं और मानते हैं कि वेद भगवान अनादि हैं। कुछ वेदर्षियों ने यहाँ तक लिखा है कि मैं बड़े परिश्रम से ये नवीन ऋचाएँ बना रहा हूँ। मेरे बाप वैद्यक करते हैं, माता पत्थर पर गेहूँ पीसती है और मैं ऋचाएँ बनाता हूँ। हम लोगों से पहले के लोग उषस् का सौंदर्य देखते थे, हम लोग आज देखते हैं और अन्य लोग आगे देखेंगे। वेदों में सहस्रों घटनाएं अंकित हैं,

जिन का किसी समय होना अनिवार्य है। इन तर्कों के उत्तर में अनादित्व माननेवालों का कथन है कि वेदर्षि अवश्य थे, किंतु वे रचयिता न होकर ऋचाओं के जाननेवाले मात्र थे, अथच ईश्वरीय अनुकंपा से उन की पात्रता के कारण उन्हें ऋचाएँ भासित भर हुईं।

इसी प्रकार के विचार पारसी, यहूदी, ईसाई, मुसल्मानी आदि ग्रंथों के विषय में भी कहे जाते हैं, और इसी ईश्वरीय संबंध पर उन की महत्ता एवं अकाट्यता आधारित है। हम ऐसे विचारों को विश्वासमात्र पर अवलंबित समझकर उन के विषय में कोई मत प्रकाश नहीं करते, वरन् इतना ही कहते हैं कि ईश्वर की न्यायप्रियता को न छोड़ते हुए हमें यही मानना पड़ेगा कि सब देशों और समयों के सुकर्मियों पर उस की समान कृपा है। हम यह भी नहीं कह सकते कि अन्य देशों के लोग या कम से कम उन के पैग़म्बर सुकर्मी न थे। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा प्रत्येक वैदिक ऋषि प्रत्येक मुख्य पैग़म्बर से श्रेष्ठतर था। ऐसी दशा में विदेशी पुनीत ग्रंथ एक दम छोड़े नहीं जा सकते, न यही कहा जा सकता है कि उन के जितने कथन वैदिक विचारों के प्रतिकूल हैं, वे त्याज्य हैं। हमारी इच्छा ऐसा कहने की अवश्य होगी, किंतु उन की भी इच्छा वैसा ही कहने की होगी। ईश्वर सब के लिए एक है और किसी देश अथवा समय का उस पर अकेला अधिकार नहीं है। धर्म सब के लिए एक है। अच्छाई सब के लिए अच्छी और बुराई बुरी है। केवल बौद्ध-धर्म ऐसा था जो बुद्धि पर चलता था, बाह्य आधारों पर नहीं। पुराने बौद्ध-धर्म को हीनयान कहते थे। फिर भी स्वयं बुद्ध भगवान ने मरते समय कह दिया कि यदि कोई नवीन धार्मिक तत्व बतलावे, तो मेरे विचारों से उसे मिलाकर अनुकूल होने पर मानना, तथा प्रतिकूल होने पर त्याज्य समझना। अतएव उस में भी ईश्वरावलंबी पुस्तकों का-सा मामला आ गया। भेद केवल इतना रहा कि महात्मा बुद्ध ने अपने वचनों का आधार ईश्वर पर न रखकर बुद्धि पर माना, जो अंत में उन्हीं की बुद्धि पर सीमित हो गया। ऐसी स्थिति में यदि हम सभी महापुरुषों के वचनों का आदर करना चाहें, तो प्रतिकूलता सामने उपस्थित हो जाती है। अतएव

अन्य सांसारिक विषयों की भाँति धर्म में भी बुद्धि का व्यवहार करना पड़ेगा, अथच आँख मूंदकर चलने से काम न चलेगा।

यदि इन सब विचारों को भी छोड़कर कहें कि हमारे तो वेद भगवान हैं, और हम उन्हीं को मानेंगे, तो इतिहास हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। हम देखते हैं कि वेद भगवान ने वैभव केवल ईश्वर में मानकर प्रधानता ३३ या ३३३९ देवी देवताओं की रक्खी, किंतु औपनिषत्साहित्य ने परावलंबी देवताओं को छोड़कर विशुद्ध निर्गुण गुणातीत परमात्मा में मन लगाया। संसार ऐसे निजी संबंधहीन परमेश्वर से संतुष्ट न रह सका, और कपिल, जैमिनि, बुद्ध आदि महात्माओं द्वारा इन विशुद्ध विचारों से विद्रोह होकर संसार में अनीश्वरवाद चलने लगा। तब बेचारे ऋषियों को अपना विशुद्ध औपनिषत्-निर्गुणवाद छोड़कर महात्मा बादरायण व्यास द्वारा 'गीता' के सगुणवाद पर आना पड़ा, जिस से संसार में फिर से ईश्वरवाद का मान हुआ। समय पर गुर्जर, सीदियन, शक, तूरानियन, हूण आदि के प्रचुर संख्या में आगमन से सनातनधर्मियों, बौद्धों, जैनों तथा इन सभों के नवीन विचारों में कई शताब्दियों तक भारी संघट्ट हुआ, जिस में धार्मिक युद्ध तो न हुए किंतु वादों की परम प्रचुरता रही। फल यह हुआ कि हम लोगों ने सब के राज़ीनामे का एक नवीन धर्म स्थापित पाया, एवं इन सब जातियों तथा वादियों को एक सुगठित जाति तथा विचारगृहीत समाज में परिणत देखा। यह दशा शंकराचार्य के समय आठवीं शताब्दी में थी और दक्षिण में यह सुधार बारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य के समय तक स्थापित हुआ। यह पौराणिक मत न केवल वैदिक विचारों से दूर था, वरन् जितनी स्थूलता 'गीता' ने सर्वमान्यता के विचार से ग्रहण की थी, उस से भी यह बहुत आगे बढ़कर बहुत स्थूल हो गया, यहाँ तक कि स्वामी शंकराचार्य को इस भद्देपन के परिशोधन की आवश्यकता समझ पड़ी।

अतएव आजकल हमारे सामने जो धार्मिक प्रश्न उपस्थित है वह वैदिक मत के मानने या न मानने का नहीं है, वरन् इस मोटिया मत के मानने या न मानने का है। प्रश्न यह है कि हम लोग अपने पौराणिक

समय वाले राजीनामे के सामने भगवान व्यास तथा स्वामी शंकराचार्य तक को मानने को तैयार हैं या नहीं। इतना अवश्य है कि यह पौराणिक समय की बड़ी ही भारी महत्ता थी, कि उसने इतनी अनमिल जातियों को सुगठित करके एक भारी सभ्यतापूर्ण ऐसी महती जाति उत्पन्न की, जिस ने आठ सौ वर्षों से अनेकानेक अत्याचार, विचार तथा आविष्कारों के धक्कों को सफलतापूर्वक सहकर अपना रूप प्रायः पूरा का पूरा बीसवीं शताब्दी-पर्यंत स्थापित रक्खा है। जिन प्रयत्नों ने हमको इतनी भारी सहायता दी, उन्हें तुच्छ, हेय या थोड़ी महिमा का मानना अनुचित है। हम उन को बहुत ही ऊँचा समझते हैं। फिर भी मनुष्य का सहज स्वभाव है कि वह उन्नतिशील है। हम देखते हैं कि पौराणिक धर्म को समाज-संगठन के राजनीतिक एवं सामाजिक विचार से अपने धर्म का रूप समय समय पर बदलना पड़ा है। यह बात अब भी बड़ी तेजी से चल रही है। इसीलिए इन प्रश्नों पर विचार करना परमावश्यक है। हमारे धर्मशास्त्र का वचन है कि बिना वैदिक साहित्य का नित्यप्रति अध्ययन किए हम ऋषि-ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। यह विचार हमें बहुत सारगर्भित समझ पड़ता है। बिना ऐसा किए अपनी सभ्यता उन्नत न होकर समय के साथ गिरती ही जावेगी। अतएव वेद भगवान को ऋषियों ने अपनी बुद्धि से बनाया या ईश्वरीय प्रेरणा से देखा, इस प्रश्न में कोई सार नहीं है। मान लिया कि उन में ईश्वर का विशेषांश है। वेदज्ञ त्रिकालज्ञ सही। प्रश्न केवल इतना है कि वेदों की शिक्षा को उपनिषदों, पुराणों, तर्कवाद, भक्तिवाद आदि से प्रभावित करते-करते आज हम कितना मान रहे हैं, और हमारे वर्तमान धार्मिक आचार-विचार कहाँ तक वेदानुकूल हैं। स्वयं 'गीता' में लिखा है कि—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्योभवार्जुन।

इसी वचन से समझ पड़ता है कि 'गीता' के ही समय में वेदविरुद्ध न केवल विचार थे, वरन् शिक्षा तक दी जाती थी। अब हम अपने पौराणिक मत के विचारों के तुलनात्मक विवरण पर फिर से आते हैं। प्रजापति एवं

ब्रह्मा का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रजापति वैदिक ईश्वर थे जो औपनिषत् ऋषि हो कर पुराणों में त्यक्तप्राय हो गए। ब्रह्मा वेदों में न थे, उपनिषदों में ब्रह्म से निकले तथा वाल्मीकीय 'रामायण' में स्वयं सत्तात्मक उत्पत्तियुक्त माने गए। पौराणिक समय में वे कर्त्ता के भावयुक्त परमात्मा के अंश हुए। अब शिव का विवरण उठाया जाता है।

शिव

'ऋग्वेद' में रुद्रशिव तैंतीस देवताओं में से थे जो स्वयं वैभवहीन और केवल ईश्वरीय शक्ति से शक्तिमान थे। वे पशुपति और वैद्यराज कहे गए और हानिकारक अधिक थे। प्रार्थना करने से लाभ भी पहुँचाते थे। 'यजुर्वेद' की शतरुद्री में वे शिव के रूप में ईश्वर हो गए। अथर्व में भी ईश्वर रहे, जहाँ भव और सर्व दो देवता थे। 'शतपथब्राह्मण' तथा 'कौशीतकी उपनिषत्' में रुद्र उपस् के पुत्र हैं। इन के चार हानिकर नाम हैं और चार लाभकर। ये आठों नाम इन्हें प्रजापति देते हैं। 'केनोपनिषत्' में उमा देवि इंद्र को ईश्वरी भाव बतलाती हैं। वे शिव की स्त्री हैं, किंतु ऐसा वहाँ लिखा नहीं है। 'श्वेताश्वतरोपनिषत्' में शिव पूर्ण परमेश्वर हैं। इस उपनिषत् के ये विचार ऊपर पूर्णतया आ चुके हैं। अतएव 'यजुर्वेद' के समय से औपनिषत्काल-पर्यंत अकेले वे ईश्वर हैं। 'गीता' (पाँचवीं शताब्दी बी० सी०) में वे पहले-पहल विष्णु के पीछे गिर जाते हैं। दूसरी शताब्दी बी० सी० में लकुलिन अथवा नकुलीश नामक महात्मा ने पाशुपत मत चलाया, ऐसा भंडारकर महाशय का कथन है। इस में इन की पूजन-विधि में नाचना, गाना, हुड़क्कार आदि संमिलित हैं। देवी के संबंध में कुछ शृंगारपूर्ण अनुचित भाव भी हैं। पशु जीवात्मा है और पशुपति महादेव। दूसरी शताब्दी बी० सी० के पतंजलि ऋषि कहते हैं कि उस काल में शिव, स्कंध और विशाख की मूर्तियाँ पुजती थीं। महाराजा कनिष्क के पिता वेम कड़फ़ाइजेज़ के सिक्कों पर शिव की मानुषी मूर्ति है, लिंग की नहीं। ये सिक्के हम ने भी लखनऊ के अजायबघर में देखे हैं। पहली शताब्दी ईसवी में महा-

यान तथा शैव मतों की विशेष वृद्धि हुई। सब पुरानी शैवलिंग की मूर्तियाँ इसी समय की मिलती हैं। ऐसी एक मूर्ति लखनऊ में भी है। छठी शताब्दी के वराहमिहिर लिखते हैं कि शैवमूर्ति की स्थापना ब्राह्मण से करावे। कालिदास (पाँचवीं शताब्दी के), भवभूति (छठी के), श्रीहर्ष (बारहवीं के) आदि महाकवि ग्रंथारंभ में शिव की प्रार्थना करते हैं। भवभूति ने 'मालती-माधव' में शैव-मंदिर का वर्णन किया है।

सातवीं शताब्दी के महाराष्ट्र में कापालिकों का कथन है। आठवीं शताब्दी के स्वामी शंकराचार्य पाशुपत मतावलंबी नीलकंठ को शास्त्रार्थ में हराते हैं, यद्यपि वे स्वयं थे शैव ही। जान पड़ता है कि उन्हों ने पाशुपत मत के अनुचित विचारों का खंडन किया होगा। 'महाभारत' है तो पुराना ग्रंथ, किंतु उस में क्षेपक बहुत मिलते रहे हैं, अतएव उस का प्रत्येक भाग शंकर के पहले का नहीं माना जाता। इस ग्रंथ में उपमन्यु ऋषि द्वारा लिंग-पूजन का कथन है। अनुशासन पर्व में शिव व्रात्यों के भी देवता कहे गए हैं। कश्मीर में कल्लट (सन् ८५४) तथा सोमानंद (दशवीं शताब्दी) ने परमोच्च भावपूर्ण शैवपूजन चलाया। ११६० में दाक्षिणात्य वासव ने लिंगायत संप्रदाय को स्थापित या उच्च किया। इलोरा के गुफामंदिर तीसरी से नवीं शताब्दी तक के माने जाते हैं। उस में शिव की महत्ता के कई मंदिर हैं, तथा रावण की भी मूर्तियाँ हैं। यही हाल आठवीं से बारहवीं शताब्दी वाले खजराहो के मंदिरों का है। मदुरा, कांची आदि में भी ऐसे ही प्राचीन समयों के शैवमंदिर हैं। बारहवीं शताब्दी के चोल-नरेश (मदरास प्रांत के) ने शैवमत को बड़े हठ के साथ माना। दक्षिण तथा ठेठ दक्षिण में ६३ शैव भक्तों के कथन हैं। वहाँ प्राचीन काल से शैव महिमा बहुत बड़ी है। चौदहवीं शताब्दी के गोरखनाथ महात्मा ने युक्तप्रांत में शैवमत-गर्भित गोरखपंत चलाया। शैव द्वादश ज्योतिर्लिंग सारे भारत में फैले हुए होकर इस महामत की व्यापकता प्रकट करते हैं। शैवमत का बौद्ध महायान से बहुत आदान-प्रदान हुआ। भारत से बौद्ध विचारों के हटाने में शैवमत का बहुत बड़ा हाथ है। आज भी देश में वैष्णव, शैव और शाक्तमत चल रहे हैं, तथा साधारण जनसमुदाय पर वैष्णव और

शैव विचारों के मिश्रण का मुख्य प्रभाव है। यद्यपि हमारा शैवमत उठा भय के आधार पर था, और बहुत काल-पर्यंत अनुचित शाक्त विचारों का भी इस पर बहुत प्रभाव रहा, तथापि समय के साथ नीचे विचार शैवमत से हटते रहे हैं, और भयवाला दूर होकर प्रेम का आधार बढ़ता रहा है, यहाँ तक कि सर्वसाधारण के विचार में यह मत आज-दिन पूर्णतया प्रेमावलंबी है, और शिवलिंग का विशेषांग से कोई संबंध नहीं समझा जाता। आज तो लिंग ब्रह्मांड का रूप समझा जाता है तथा शिव आशुतोष होने के कारण सर्व-साधारण में प्रिय हैं, न कि किसी समय में भयानक होने के कारण। वे आज शिवशंकर, योगी, भोलानाथ हैं, जो आक धतूरे से ही संतुष्ट होकर सभी कुछ दे डालते हैं। 'ऋग्वेद' में आप तैंतीस देवताओं में से एक रहे, सो भी साधारण, और 'यजुर्वेद' से तथा 'अथर्ववेद' से ईश्वर हो गए, जो पद औपनिषत्काल तक चला। पीछे ईश्वरता के गिरने से यह भी गिर गए और 'गीता' में विष्णु इन से आगे निकल गए। फिर भी १८ पुराणों में छः वैष्णव हैं और छः शैव, यद्यपि गंभीरता में वैष्णव पुराण शैव से श्रेष्ठतर हैं। कुल मिलाकर पौराणिक साहित्य में आप दैत्यों, दानवों, निशाचरों आदि के भी हितू, कृपालु, आशुतोष, संहारक और ईश्वरीय त्रयी के एक मुख्य सदस्य हैं।

बौद्धधर्म

महात्मा गौतमबुद्ध का प्रादुर्भाव ५६४ बी० सी० में राजकुल में हुआ। आपने सब कुछ छोड़कर वैराग्य पसंद किया और पूरा विद्यालाभ एवं तपस्या तथा विचार विस्तीर्ण करके बौद्धसिद्धांत ३५ वर्ष की अवस्था में चलाना आरंभ किया, तथा ४५ साल उन का प्रचार करके ८१ वें वर्ष निर्वाण प्राप्त किया। अपने धर्म के सात रत्नों को आपने सप्तत्रिंशच्छिद्दयमाण धर्म कहा। इन का वर्णन हम अपने ग्रंथों में विस्तारपूर्वक दे चुके हैं। मुख्यता इन की आचार पर है। अनंतर भगवान बुद्धदेव ने चार आर्य सत्यों तथा पंचोपादान स्कंध दुःख का कथन किया है। इन के विवरण भी अन्यत्र दिए जा चुके हैं। बौद्धमत संसार को दुःख-मूलक समझ कर शुद्ध कर्मों द्वारा निर्वाण-प्राप्ति को

मनुष्य जाति का उद्देश्य बतलाता है। यह धर्म कर्म-प्रधान और ईश्वर, वेद आदि से असंबद्ध है। इस काल-पर्यंत हमारे ऋषियों ने पुराने विचारों का उचित से कुछ अधिक मान करके नए विचार यथासाध्य उन से मिलाकर चलाये थे, किंतु बुद्धदेव ने प्राचीनता का यह मान छोड़ कर केवल बुद्धि को मान्य ठहराया। अब तक धार्मिक विचार संस्कृत भाषा में लिखे गए थे, किंतु आपने सर्वसाधारण से सीधा संयोग प्राप्त करने के लिए अपने उपदेश तत्काल प्रचलित देशभाषा पाली में दिए। भगवान बुद्धदेव संसारी जीवन को दुःखमय समझ कर निर्वाण को उच्चतम पद मानते हैं। संसार में वृद्धों, बीमारों तथा मृत्यु के अस्तित्व ने आप के कोमल चित्त पर भारी प्रभाव डाला और संसारत्यागी भिक्षु-वर्ग का जीवन आपको अच्छा जँचा। यज्ञों द्वारा पशुबलि तथा ऋत्विज आदि के अनुचित मान ने आप को यज्ञ का विरोधी बनाया, तथा जाति एवं यज्ञ का महत्व ईश्वर और वेदों पर भी अवलंबित देख कर आप ने इन दोनों का भी आदर न किया, तथा शुद्ध कर्म को मुख्यता दी। इन के निर्वाण के थोड़े ही पीछे शिष्यों ने ये उपदेश पाली में लिपिबद्ध किए। यह महत्कार्य एक महती धर्मसभा द्वारा किया गया। प्रायः एक शताब्दी के पीछे ऐसी ही दूसरी धर्म-सभा हुई। जो ग्रंथ-समुदाय इस प्रकार तैयार हुआ, उसे 'त्रिपिटक' कहते हैं। 'त्रिपिटक' में सैकड़ों ग्रंथ संमिलित हैं। उस में कहानियों के ग्रंथ तथा जातकों से लेकर 'गीता' तक के समान 'धम्मपद' आदि तक परमोत्कृष्ट ग्रंथ हैं। प्रायः २६४ बी० सी० तक बौद्धधर्म एक संप्रदाय मात्र रहा, जिस में केवल गृहत्यागी भिक्षु थे। स्त्रियों के विषय में अदर्शन, अनालाप तथा अत्यंत सावधानी की आज्ञाएँ थीं। वे पहले भिक्षुवर्ग में ली भी न गईं। आनंद के आग्रह से भगवान ने उन्हें भी भिक्षुणी बनाया, किंतु उन का पद पुरुषों के समान न हुआ। बौद्धमत में जीवदया पर विशेष बल था और गुरु, माता, पिता आदि का असीमप्राय मान था, जो आगे चलकर न्यायालयों द्वारा तक प्रचारित हुआ। उपरोक्त समय के निकट बौद्ध होकर महाराज अशोक ने इसे गृहस्थों में भी चलाया। उन्हों ने बौद्ध और जैन धर्मों से छाँटकर गृहस्थों के योग्य व्यावहारिक धर्म निकाला, और उसी का नम्र भाव से राजाज्ञा द्वारा प्रचार किया।

जब बौद्धधर्म गृहस्थों में आया, तब हिंदू और बौद्ध लोगों में विचारों का आदान-प्रदान होने लगा, जिस से दोनों धर्म विकसित होकर समय पर समप्राय हो गए, और उन में थोड़ी ही बातों में भेद रह गया। बौद्ध लोग अन्य प्रदेशों में धर्म-प्रचार के बड़े उत्साही थे, जिस से इन के प्रयत्नों से समय पर लंका, बर्मा, इंडोचीन, चीन, जापान आदि में बौद्धधर्म फैला तथा बैबिलोन में भी बौद्धसंघ स्थापित हुआ। महात्मा बुद्ध ने पहले-पहल सर्वसाधारण का मान बढ़ाकर संघ को भी त्रिरत्न में से एक माना। शेष दोनों रत्न बुद्ध और धर्म थे। बुद्धदेव के भारी प्रभाव से भारत में आर्यों तक में इन की प्रतिमाएँ पुजने लगीं, जिस से हिंदुओं में प्रतिमा-पूजन का मान बढ़ा। इन्हीं के कारण व्यक्तित्व का भारी मान बढ़कर अवतार का विचार चला। हिंदुओं ने इसे अतिशीघ्र माना। हम 'गीता' में अनेकानेक व्यक्तियों, नदियों, पहाड़ों आदि में ईश्वरीय विशेषांश का कथन पाते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं अपने को भी ईश्वर कहते हैं, और कई विभूतियों में एक विभूति भी बतलाते हैं, तथा महायोगेश्वर भी कहे गए हैं। समय पर हिंदूमत के प्रभाव से बौद्धमत बहुत बदल गया, और महायान कहलाने लगा, तथा पुराना मत हीनयान कहलाया। महाराजा कनिष्क पहली शताब्दी के तुर्क सम्राट् थे, जिन की राजधानी पेशावर में थी, तथा जिन का साम्राज्य बनारस से पश्चिमी एशिया तक फैला हुआ था। इस तुरुष्क वंश के प्रभाव से भारत में प्रतिमा-पूजन का विस्तार बहुत हुआ। आप भी बौद्ध हुए तथा भगवान को देव-भाव से पूजने लगे। इन के समय में बौद्धों की तीसरी भारी धर्म-सभा हुई, जिस के अनुसार महायानीय 'त्रिपिटक' संस्कृत भाषा में बना। उत्तरी भारत से महाराष्ट्र तथा गुजरात प्रांतों पर्यंत बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार हुआ। प्रायः एक तिहाई जनता बौद्ध थी और शेष हिंदू। फिर भी थे ये लोग हिंदू तथा आर्यसमाजियों की भाँति एक ही, अर्थात् किसी के हिंदू अथवा बौद्ध होने से रोटी-बेटी आदि का कोई सामाजिक बहिष्कार नहीं होता था, वरन् लोग सुख से यथारुचि किसी भी मत में आ जा सकते थे। जब राजमान बढ़ता था, तब बौद्धों की संख्या बढ़ जाती थी, और इसी प्रकार राजमान की कमी से घट भी जाती थी। अंत

में मांसाशन के कठिन निषेध तथा गुरु, माता, पिता आदि की अनुचित महिमा-वृद्धि से व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा पड़ने लगी, और हिंदुओं में कोई ऐसा बंधन न होने से जनता धीरे-धीरे बौद्धमत छोड़ बैठी। बौद्ध पंडित फिर भी वादरत रहे, जिन्हें कुमारिल्ल भट्ट और शंकराचार्य ने पराजित कर के हिंदूमत की वृद्धि की जिस से वह मत मगध, वायव्य सीमाप्रांत एवं अफ़ग़ानिस्तान भर में रह गया। इन तीनों प्रांतों से ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में मुसल्मानी अत्याचार ने इसे निर्मूल प्राय कर दिया। अब बर्मा के अतिरिक्त भारत में प्रायः ३१८००० बौद्ध हैं। बौद्धों का दर्शनशास्त्र भी पृथक् है, किंतु उस के यहाँ कथन की आवश्यकता नहीं है।

जैनमत

जैनमत के चलाने वाले महावीर तीर्थंकर ने ५९९ बी० सी० में राज-कुल में उत्पन्न हो कर ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया। आप ने ४२ वर्ष की अवस्था में ज्ञान प्राप्त कर के उस का ३० वर्ष प्रचार किया। जैनियों के तीन सिद्धांत हैं, अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् कर्म। इस अंतिम के पाँच उपदेश हैं, अर्थात् सत्यभाषण, अस्तेय, इच्छाध्यान, पवित्रता और अहिंसा। ये लोग ईश्वर को न मानकर तीर्थंकर को ईश्वर मानते हैं। जीव को ये लोग चैतन्य प्रकाशरूप एवं ससीम कहते हैं, तथा स्याद्वाद की प्रधानता रखते हैं। जीव की ससीमता पर ही शंकर स्वामी ने जैन पंडितों को वाद में पराजित किया। यह मत बौद्धमत सा देशव्यापक नहीं हुआ। इस का प्रचार गुजरात, मारवाड़, तथा तामिल प्रांतों में अच्छा हुआ। उत्तरी भारत में शंकर स्वामी तथा ठेठ दक्षिण में स्वामी रामानुजाचार्य द्वारा इस का पतन हुआ।

शाक्तमत

शक्ति का वर्णन वेदों में नहीं है, न उपनिषदों में, केवल 'केनोपनिषत्' में उमा का नाम आचार्यता के संबंध में आया है। 'महाभारत' में अर्जुन द्वारा इन का पूजन लिखा है। शाक्तमत में अश्लील पूजन अधिकता से है। इस मत की ७२ शाखाओं में केवल ९ दक्षिण-मार्गस्थ हैं, तथा शेष ६३ वाममार्ग-

पूर्ण। इस पूजन में अभी बहुत कुछ उन्नति शेष है। लोगों का विचार है कि शुद्ध वैष्णव मत में राधा का मान शक्ति-पूजन के वाम-विचारों से आया है।

गाणपत्य संप्रदाय

'ऋग्वेद' के ब्रह्मणस्पति सूक्त में गणपति तथा बृहस्पति दोनों ब्रह्मणस्पति कहे गए हैं। 'अथर्व शिरस्' उपनिषत् में यही विनायक भी हैं। 'महाभारत' के अनुशासन पर्व में कई गणेश्वर और विनायक हैं। वे देवता हैं, सर्वत्र प्रस्तुत रहते हैं और मानुषो कर्मों के साक्षी हैं। यही काम मुसलमानों में याजूज माजूज का है। ईसा से पूर्व के ग्रंथ 'मानवगृह्यसूत्र' में चार विनायक विघ्नकारक हैं। 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में रुद्र ने पट्नामधारी विनायक को गणपति बनाकर उन्हें मनुष्यों के कार्यों में विघ्न डालने का काम सौंपा। इन की माता अंबिका हैं। विघ्न-कारक हो कर भी उपासना करने से ये विघ्न मेटने वाले हो सकते हैं। इसी से शुभ कार्यों के आदि में इन का स्मरण होता है, जिस में कोई विघ्न-बाधा न पड़े। गुप्त-साम्राज्य तथा पीछे का राज्य चौथी से छठी शताब्दी तक चला है। यही समय हमारे यहाँ सत्ययुग सा हो गया है। उस काल के लेखों में इन का वर्णन नहीं है, किंतु एलोरा के मंदिरों में आप प्रस्तुत हैं। ८६२ के एक शिला-लेख में आप को दंडवत् लिखो है। 'महाभारत' में आप व्यास भगवान के लेखक हैं, किंतु यह बात प्रक्षिप्त समझ पड़ती है और इस का समय अनिश्चित है। जान पड़ता है कि छठीं से नवीं शताब्दी के बीच में आप का पूजन-विधान उठा है, यद्यपि नाम 'ऋग्वेद' तथा ईसा से पूर्व वाले 'मानवगृह्यसूत्र' में भी है। छठी शताब्दी के भवभूति इन को गजशिर कहते हैं। इलोरा में भी यह शिर प्रस्तुत है। अनंतानंद गिरि छः गाणपत्य संप्रदाय बतलाते हैं। हेरंबसुत उच्छिष्ट गणपति के उपासक हैं। अब इन का पूजन विघ्नेश के रूप में न हो कर विघ्न-विनाशक विद्वान देवता के विचार से होता है।

विष्णु भगवान

विष्णु का नाम तो 'ऋग्वेद' में भी है, किंतु आप की महिमा इस नाम के अतिरिक्त नारायण, वासुदेव, कृष्ण, भगवत् आदि नामों तथा अन्य अव-

तारों के संबंध में अधिक हुई है, और अपने नाम से कम। 'ऋग्वेद' में आप ३३ मुख्य देवताओं में एक हैं, जहाँ इंद्र के नीचे इन का उपेंद्र पद है। इन के तीन डगों का भी वर्णन है, जिस से पौराणिक वामन की कथा निकली समझ पड़ती है। 'ऋग्वेद' में आप का परमपद है। वहाँ इंद्र से तो ये कम हैं, किंतु रुद्र शिव से बड़े हैं। फिर भी अन्य वेदों में शिव का पद बढ़ा, किंतु विष्णु का नहीं। 'ऐतरेयब्राह्मण' में अग्नि का सब से नीचा, तथा विष्णु का सब से ऊँचा पद है। 'शतपथब्राह्मण' तथा 'तैत्तिरीय अरण्यक' में विष्णु देव-मंडली में सर्व-श्रेष्ठ हैं। 'शतपथब्राह्मण' में वामन पृथ्वी डगों द्वारा न जीत कर लेटे-लेटे सारे जगत पर फैल जाते हैं और वह देवतों को मिलती है। 'मैत्रेय उपनिषत्' में भोजन विष्णु का रूप है, तथा 'कठ' में मानुषी उन्नति का चरमोत्कर्ष वैष्णव परमपद की प्राप्ति है। 'महाभारत' विष्णु को परमात्मा कहकर नारायण, कृष्ण और वासुदेव का वर्णन करता है। वैष्णव-मंदिर कम देखे जाते हैं, वाराह, नृसिंह, कृष्ण, राम आदि के बहुत। शेषशायी विष्णु भुवनेश्वर, जगन्नाथपुरी के मंदिर, खजराहो में एवं अन्यत्र भी हैं। युधिष्ठिर के समय वाले नारायण ने 'ऋग्वेद' का पुरुषसूक्त कहा तथा 'यजुर्वेद' का भाग भी बनाया। 'शतपथब्राह्मण' में नारायण परमात्मा से उत्पन्न हैं। ईसा मसीह के ईश्वरीय पितृत्व का विचार कदाचित् यहीं से निकला हो। नारायण ने पंचरात्र का विचार निकाला। ब्रह्मा के वर्णन में आ चुका है कि पहले वे भी नारायण कहलाए। इन का संबंध आदिम जल से है। 'तैत्तिरीय अरण्यक' में नारायण परमात्मा हैं। 'महाभारत' उद्योगपर्व में अर्जुन-कृष्ण नरनारायण हैं। 'महाभारत' के नारायणीय खंड में (जिस का कथन शंकर स्वामी ने भी किया है) नारायण श्वेतद्वीप में नारद को वासुदेव की महिमा सुनाते हैं। यह धर्म पंचरात्र, एकांत, अथवा एकांतिक भी कहलाता है। मरीचि, अत्रि, अंगिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ (सातों चित्रशिखंडियों) तथा स्वायंभुव ने यह मत सुरक्षित रक्खा। इस में नर नारायण, कृष्ण और हरि, धर्म तथा अहिंसा के पुत्र, एवं परमात्मा के चार रूप माने गए हैं, तथा यह सात्वतों का मत कहा गया है।

अवतारों का वर्णन बौद्धकाल के पहले वाले हिंदू साहित्य में नहीं है।

प्रजापति और ब्रह्मा के वर्णनों में उस साहित्य में उन के द्वारा मत्स्य, कच्छ, और वाराह रूपों में कार्य-विशेष का होना मात्र लिखा है। वाल्मीकीय 'रामायण' राम का विवरण देते हुए भी उन्हें अवतार नहीं कहता, किंतु उस ग्रंथ के नवीन भागों में अवतार तथा व्यूह, इन दोनों विश्वासों के कथन हैं। इस से वे नवीन भाग चौथी शताब्दी बी० सी० के पीछे जुड़े समझ पड़ते हैं। 'महाभारत' के नारायणीय खंड में मत्स्य, कच्छ, वाराह, नृसिंह, वामन, परशु-राम, राम, कृष्ण, हंस और कल्कि अवतार कहे गए हैं। 'गीता' में केवल श्रीकृष्ण भगवान हैं और अवतार भी। 'हरिवंश' में छः अवतार हैं, एवं वायु, वाराह, अग्नि और भागवत पुराणों में दश अवतार हैं। इन सब में राम और कृष्ण दोनों अवतार हैं। 'पतंजलिभाष्य' और 'अमरकोष' में राम का नाम नहीं है। भवभूति ने राम को अवतार माना है। माधवाचार्य ने सन् १२६४ में नरहरि तीर्थ को सीताराम की मूर्ति लाने को जगन्नाथपुरी भेजा तथा बदरीनाथ से वे स्वयं राम की मूर्ति लाए।

वैष्णवपूजन के समय

(१) प्रायः ६०० बी० सी० के वैयाकरण पाणिनि वासुदेव को देवता मानते थे, ऐसा विचार व्याकरण के नियमों से पतंजलि भाष्य में लिखते हैं।

(२) 'भगवद्गीता' (प्रायः ५०० बी० सी०) में कृष्ण भगवान विष्णु हैं।

(३) ४०० बी० सी० के बौद्धग्रंथ 'निद्देश' में लोगों द्वारा वासुदेव और बलदेव के पूजन का कथन है। बलदेव का माहात्म्य व्यूहपूजन है।

(४) तीसरी शताब्दी बी० सी० के ग्रीक राजदूत मेगास्थेनीज़ मथुरा में शौरसेनों द्वारा कृष्णपूजन बतलाते हैं।

(५) दूसरी शताब्दी बी० सी० के पतंजलि वासुदेव को पूज्य देवता मानते हैं।

(६) दूसरी शताब्दी बी० सी० वाला घोसुंडी का शिलालेख संकर्षण और वासुदेव के पूजन-मंडप का बनना कहता है।

(७) दूसरी शताब्दी बी० सी० का बेसनगर वाला शिलालेख वासुदेव का गरुड़ध्वज बनना बतलाता है।

(८) पहली शताब्दी बी० सी० का नानाघाट वाला लेख वासुदेव तथा संकर्षण का पूजन बतलाता है।

(९) पहली दूसरी शताब्दी के निकट मथुरा के पास वाले आभीर बालकृष्ण का पूजन करते थे। भण्डारकर महाशय यह समय ईसा के कुछ पीछे का बतलाते हैं।

(१०) 'घटजातक' पहली शताब्दी ईसवी का बौद्धग्रंथ बालकृष्ण की कथा कहता है।

(११) पहली शताब्दी का 'अमरकोष' कृष्ण को दामोदर कहता है। यह नाम बालकृष्ण से संबद्ध है।

(१२) तीसरी शताब्दी के गुप्त महाराजे अपने को परम-भागवत कहते थे।

(१३) सन् ३८३ का एक लेख जनार्दन का ध्वजस्तंभ बनना बतलाता है।

(१४) गुप्त-महाराज चंद्र पाँचवीं शताब्दी वाले का कुतुबमीनार के सामने वाला लौहस्तंभ विष्णु का ध्वजस्तंभ था।

(१५) चौथी पाँचवीं शताब्दी का आडवार तामिल वाला संत-संघ वैष्णव गीतों का प्रचार करता था। यह नारायण विष्णु की महिमा गाता था।

(१६) पाँचवीं शताब्दी के कालिदास गोपाल कृष्ण का कथन करते हैं।

(१७) छठी शताब्दी के वराहमिहिर भागवत विष्णु का पूजन लिखते हैं।

(१८) आठवीं शताब्दी के शंकराचार्य से पहले का 'महाभारत' वाला नारायणीय खंड नारायण-द्वारा नारद को एकांतिक मत बतलाता है। व्यूह-पूजन में राम कृष्ण विवेक हैं, लक्ष्मण संकर्षण अहंकार, भरत प्रद्युम्न मन और शत्रुघ्न अनिरुद्ध चित्त।

(१९) सन् १०१३ का 'धर्मपरीक्षा' नामक जैन ग्रंथ राम और बुद्ध का अवतार माना जाना बतलाता है।

प्रयोजन यह निकलता है कि विष्णु वैदिक देवता उपेंद्र थे। इन का माहात्म्य अन्य वेदों में न बढ़ा तथा उपनिषदों में नारायण के नाम से ये कहीं परमात्मा से उत्पन्न कहे गए और कहीं स्वयं परमात्मा। बौद्धकाल के आरंभ से वासुदेव के नाम की महिमा बढ़ी, तथा 'गीता' में भगवान और कृष्ण के नामों

से भी आप परमात्मा कहे गए। श्रीकृष्ण 'गीता' में अपने को प्रायः परमात्मा कहते हैं और कहीं कहीं अवतार भी। मुख्य विचार अवतार ही का है, क्योंकि अवतार भी परमात्मा है ही और वे मनुष्य थे ही। आगे चलकर पौराणिक साहित्य में त्रिमूर्ति का विचार दृढ़ हुआ, जिस में पालक होकर परमात्मा के तीन भावों में आप एक हुए। अठारह मुख्य पुराणों में छः वैष्णव हैं और इतने ही शैव। पुराणों में विष्णु और शिव दोनों की महिमा बड़ी है, किंतु वैष्णव पुराण शैव पुराणों से अधिक गंभीर और पंडितों में सर्वमान्य है। इन कारणों से पौराणिक समय के विष्णु ही मुख्य देवता माने जा सकते हैं। परमेश्वर पर विचार पुराणों में कम है, तथा त्रिदेव पर विशेष। वैष्णव-धर्म में अवतारों पर विशेष बल है, स्वयं विष्णु का कम। अवतार हैं शिव के भी, किंतु उन की महत्ता कम है।

गीता

श्रीभगवद्गीता सात सौ श्लोकों का एक ग्रंथ है। हिंदू धार्मिक साहित्य में इस से बढ़ कर क्या बराबर भी कोई ग्रंथ नहीं है। इस की टीका-टिप्पणी के बहुतेरे ग्रंथ प्रस्तुत हैं, और लोगों ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक प्रकार के अर्थ लगाए हैं। वैदिक साहित्य एक ढर्रे से चल रहा था, कि इतने ही में उस के प्रतिकूल विद्रोह उपस्थित हो गया, जिस से ईश्वरवाद ही संशय से पड़ गया। इस पर सगुणवाद लेकर बादरायण व्यास ने डूबते हुए ईश्वरवाद को उबारा। निर्गुणवाद व्यास भगवान ने छोड़ा नहीं, वरन् उस के साथ सगुण-वाद मिला दिया, और महात्मा बुद्धदेव के कर्तव्य-पालन, जाति-पाँति की समता आदि के मान्य सिद्धांत ग्रहण करके हिंदूधर्म का ऐसा सर्वमान्य नवीन संस्करण निकाला, जो थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अब तक चल रहा है। भारत में बौद्धमत-पतन, ईश्वरता का दृढ़ स्थिरीकरण, तथा औपनिषत्-ज्ञान का मान करते हुए सगुणवाद-स्थापन का श्रेय आप ही को प्राप्त है। हम ने स्वयं 'गीता' का सार प्रायः २० पृष्ठों में प्रकाशित किया है, किंतु यहाँ पर बहुत थोड़े में विचार प्रकट करना आवश्यक है। 'गीता' कर्मयोग पर बल लगा कर कर्तव्य को प्रधानता देती है। कर्तव्य के आगे 'गीता' निरग्नि तथा अक्रिय

लोगों का मान नहीं करती (स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः)। स्थितप्रज्ञ का कथन करते हुए 'गीता' फलों की लालसा छोड़ कर केवल कर्तव्य का मान करती है। ऐसे स्थानों पर 'गीता' पर बौद्ध विचारों का प्रभाव समझ पड़ता है। अवतार के विषय में 'गीता' का निम्न कथन है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहं॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

जब जब धरम गलानि दुख दानि होति
अधरम दारुण प्रबलता धरत है।
साधुन के छीन त्यों असाधुन के पीन परे
परम प्रगाढ़ जग संकट परत है॥
तब तब धारि अवतार जगदीस दीह
पापन के पुंज को पराभव करत है।
खलन संहारि औ उधारि साधु जुग जुग
सुधरम थापि जग आनंद भरत है॥

अवतार को मानते हुए भी 'गीता' का कथन है कि—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यंते मामबुद्धयः।
परं भावमजानंतो ममाव्ययमनुत्तमम्॥ (गीता ७, २४)

बुद्धिहीन लोग मेरा बड़ा, नित्य तथा अत्युत्तम विचार न जानकर मुझ अज्ञेय को व्यक्ति में प्राप्त मानते हैं। प्रयोजन यह है कि ईश्वरीय समांश अवतार तक में नहीं आ सकता वरन् उस में ईश्वरांश की विशेषता मात्र है। अनंतर भगवान कहते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ (गीता १०, ४१)

इसी विचार से आप का कथन है कि "वृष्णीणां वासुदेवोस्मि पांडवानां धनंजयः।" भक्ति के विषय में भी "न मे भक्तः प्रणश्यति" का वचन आया

है। जो लोग अन्य देवताओं का भजन करते हैं, "तेऽपि मामेव कौंतेय भजंत्यविधिपूर्वकम्", किंतु ईश्वर का सच्चा ज्ञान न रखने से "तत्वेनातश्च्यवंति ते।" अतएव 'गीता' एक परमेश्वर को पूज्य मानती है, किसी इतर को नहीं। उस की भक्ति के विषय में आया है कि "पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियार्हसि देव सोढुम्"। अतएव यहाँ पिता, पति और सखा-भाव से भक्ति का कथन आ गया है। अब यह प्रश्न उठता है कि 'गीता' का पूज्य ईश्वर कौन है? हमारी समझ में वह विष्णु भगवान् हैं। 'गीता' में ग्यारहवें अध्याय में विराट् रूप के विषय में निम्न कथन आया है—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोश्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्ष्यंते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमंतम्॥ ३॥
स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च॥ ४॥
त्वमादिदेवःपुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्॥ ५॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥ ६॥
दृष्ट्वाहि त्वां प्रव्यथितांतरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो॥ ७॥
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपंति विष्णो॥ ८॥

यहाँ पहले श्लोक में ब्रह्मा और दूसरे में रुद्र इस रूप के अंतर्गत होकर इस से न्यून माने गए हैं, किंतु विष्णु का ऐसा कथन न हुआ। 'गीता' त्रिदेव का वर्णन न कर के विष्णु का परमात्मा के रूप में करती है। तीसरे श्लोकांश में किरीट, गदा और चक्र, जो विष्णु से संबद्ध हैं, आदि पुरुष के विषय में भी दिखलाए गए हैं। श्लोकांश ४ व ५ में इस के विषय में हृषीकेश और पुरुष-पुरातन के कथन आए हैं, जो विष्णु के नाम हैं। नंबर ६ में उन का विष्णु के समान चतुर्भुज होना कहा गया है, तथा नंबर ७ व ८ में वे विष्णु कर के संबोधित ही हुए हैं। अतएव प्रकट ही है कि यह विश्वमूर्ति विष्णु ही है।

'गीता' में और भी अनेकानेक उपदेश हैं, किंतु यहाँ उपरोक्त ही पर्याप्त होंगे। उस में जीवात्मा अव्यय कहा गया है।

पुराण-ग्रंथ

वैदिक साहित्य हमारे ऋषियों ने स्मरण-शक्ति द्वारा रक्षित रक्खा; उसे लिपिबद्ध न किया। जैसे ब्राह्मणों ने वैदिक साहित्य कंठाग्र रक्खा, वैसे ही सूतों ने ऐतिहासिक मसाला बचाया। कहते हैं कि जब पंद्रहवीं शताब्दी बी० सी० में भगवान कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों का संपादन करके उन्हें एक से चार किया, और वे भाग अपने शिष्यों में बाँटे, तब उन्हों ने लोमहर्षण सूत को इतिहास का विषय दिया। इन लोमहर्षण के अकृतव्रण, मैत्रेय और शिशुपायन नामक तीन शिष्य थे। इन चारों ने मिल कर चार मीमांसा-ग्रंथ रचे, जिन में उस काल तक का ऐतिहासिक मसाला दृढ़ हुआ। यह 'विष्णु-पुराण' का कथन है। अनंतर नवीन घटनाएँ इन में जुड़ती गईं, जिस से समय पर प्राकृतपुराण बने, जो प्राकृत भाषा में थे। इन का मान राजाओं, स्त्रियों और शूद्रों में अच्छा हुआ। सोचा जाता है कि दसवीं शताब्दी बी० सी० से अपने यहाँ लेखन का विशेष प्रचार हुआ। बौद्धसाहित्य में उस काल यह खूब प्रचलित पाया जाता है। सातवीं शताब्दी बी० सी० में यहाँ वाल्मीकीय 'रामायण', 'जय' तथा 'मनुस्मृति' नामक तीन ग्रंथ बने। 'रामायण' में बाल और उत्तरकांड पीछे से जुड़े, तथा दो चार श्लोक मात्र इधर उधर जोड़े गए। शेष 'रामायण' अपने मूलरूप में अब भी होने से उस काल की सभ्यता का बहुत ही शुद्ध एवं पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। 'जय' बढ़ते-बढ़ते 'भारत' और फिर 'महाभारत' हो गया। 'मनुस्मृति' भी खूब बढ़ी। इन दोनों ग्रंथों की आदिम शुद्धता नष्ट हो चुकी है। अनंतर 'भगवद्गीता' बनी, जो बहुत ही उत्कृष्ट ग्रंथ है। इस के पीछे १८ पुराण, १८ उपपुराण तथा 'हरिवंश' एवं 'महाभारत' ग्रंथ पूर्ण हुए। इन में 'विष्णु-पुराण', 'भविष्य-पुराण', 'अग्नि-पुराण', 'ब्रह्मांड-पुराण', 'लिंग-पुराण', 'महाभारत', 'हरिवंश' और 'भागवत' बड़े उच्च श्रेणी के ग्रंथ हैं। पंडितों का कथन है कि ये ग्रंथ प्रायः दूसरी शताब्दी

के निकट बने। पहली शताब्दी के 'अमरकोष' में पुराण का लक्षण दिया है। उस समय कई पुराणग्रंथ अवश्य होंगे। उस लक्षण पर अकेला 'विष्णु-पुराण' पूरा बैठता है। कुछ पुराणों में सोलहवीं शताब्दी तक की कथाएँ हैं। जब बौद्धमत के आघातों से वैदिक साहित्य का मान देश में घटा, तब पुराणों का महत्त्व बढ़ा और पंडितों ने संस्कृत में उत्कृष्ट साहित्यपूर्ण उपरोक्त ग्रंथ बनाए, जिस से प्राकृत पुराण नष्ट हो गए। 'हरिवंश' और 'महाभारत' पुराण न कहला कर इतिहास कहे जाते हैं। वैदिक साहित्य में घटनाएँ क्रमबद्ध नहीं हैं, और हैं भी कम। इधर पुराणों का विषय ही इतिहास है। बौद्ध और जैन साहित्य से भी बहुतेरी बहुमूल्य घटनाएँ प्राप्त होती हैं। कहते हैं कि छितरे हुए पौराणिक मसाले का गुप्त-काल में सुसंपादन होकर पुराणों के वर्तमान रूप बहुत करके स्थिर हुए। इस से पीछे के क्षेपक थोड़े ही से हैं।

पाश्चात्य एशिया के धार्मिक विचार

पाश्चात्य एशिया में तीन प्रधान धार्मिक प्रदेश थे, अर्थात् फ़ारस, पैलेस्टाइन (राजधानी जेरूजलम) और मक्का। फ़ारस में पारसियों का धर्म प्रधान था, जिस में अग्निपूजन की मुख्यता है। इस का धार्मिक ग्रंथ 'जैन्दा-वस्ता' देव, समाज, भाषा और भाव चारों में हमारे 'ऋग्वेद' से कुछ कुछ मिलता है। पारसियों के मुख्य ऋषि ज़ूरास्टर थे। अब यह मत प्रधानतया केवल भारतीय पारसियों में शेष है, जहाँ इन की संख्या तीस पैंतीस सहस्र मात्र है। भारत में ये लोग गऊ और गंगा को भी मानते हैं, और वैवाहिक रीतियों में ब्राह्मण पंडितों को भी बुलाते हैं। फ़ारस प्रायः १२०० वर्षों से शिया मुसलमान है। बलूचिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान प्रायः दसवीं शताब्दी तक हिंदू तथा बौद्ध देश थे, और पीछे से इन्हों ने सुन्नी मुसल्मान मत ग्रहण कर लिया।

पैलेस्टाइन में १२४००० नबी हुए हैं तथा कई पैग़ंबर, जिन में इब्राहीम ने एकेश्वरवाद सिखलाया और कई प्रसिद्ध धार्मिक आज्ञाएँ प्रचारित कीं। इन की छोटी सी धर्मपुस्तक 'सहीफ़ा इब्राहीमी' कहलाती है। इस की गणना चार मुख्य किताबों में नहीं है। इसराईल वहाँ एक प्रधान व्यक्ति हुए हैं,

जिन की संतान बनी इसराईल कहलाती है। इसराईल के बारह पुत्रों में यूसुफ़ मुख्य थे। किसी दुर्भिक्ष के कारण वे मिश्र (ईजिप्ट) चले गए। वहाँ एक स्वप्न के अर्थ लगाने से बादशाह ने प्रसन्न हो कर इन्हें राजमंत्री बनाया। पीछे इन के पिता और भाई भी वहीं पहुँचे। बहुत पीढ़ियों तक यह वंश मिश्र ही में रहा। अनंतर इन पर राजकोप हुआ। इन के तत्कालीन नेता मूसा वहाँ से पैलेस्टाइन जाने को जब उद्यत हुए, तो शाह ने इस में बाधा डाली। इस पर वहाँ के पादरियों और मूसा में करामात (असंभव घटनाएँ) दिखलाने की होड़ हुई, जिस में मूसा विजयी हुए। अनंतर ये हज़ारों भाई बंदों को ले कर समुद्र पार स्वदेश को जाने लगे, तो शाह ने इन का पीछा किया। ये तो समुद्र पार हो गए किंतु शाह ससैन उसी में डूब मरा। मूसा का ईश्वर से व्यक्तिगत संबंध बहुत अधिकता से वर्णित है। आप ने इब्राहीम के एकेश्वरवाद तथा कुछ आज्ञाओं को तो स्थापित रक्खा, किंतु भोजन तथा आचार-संबंधी बहुत से नियम बनाए। इन की प्रसिद्ध दस आज्ञायें भी हैं। इब्राहीम और मूसा का मत जूडाइज़्म (यहूदियों का मत) कहलाता है। इन्हें लोग मूसवी या मूसाई भी कहते हैं। तौरीत[१] मूसा की धार्मिक पुस्तक है। मूसा पर मिश्र देश के मत का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा।

अनंतर एक बौद्धमठ भी बैबिलोन में स्थापित हुआ, जिस के प्रभाव से जूडाइज़्म में नए विचार आने लगे। दाऊद को भी मुसलमान लोग साहेबे-किताब समझते और 'ज़बूर' इन की पुस्तक बतलाते हैं। यह वास्तव में कोई पुस्तक नहीं है। तौरीत में जो दाऊद की शिक्षाएँ लिखित हैं, वे ही ज़बूर मानी जा सकती हैं। दाऊदी कोई मत विशेष नहीं है। दाऊद भी मूसवियों में एक पैगंबर थे तथा इन के पुत्र सुलैमान भी। जॉन दि बैप्टिस्ट भी एक अप्रधान पैगंबर हुए जो ईसा से प्रायः १०० वर्ष पूर्ववर्ती थे। यहूदियों ने मत-पार्थक्य के कारण इन का वध करा डाला। अनंतर ईसा मसीह का जन्म हुआ। इन के पूर्व मिश्र देश में बौद्ध-त्रिरत्न के ढंग पर त्रिदेवत्व स्थापित हो चुका था। ईसा

---

[१] Old Testament

मसीह ने ईश्वर के पितृत्व का भाव निकाला और यह कहा कि मानुषीय पापों के कारण दया-बाहुल्य से ईश्वर बहुत दुःखी रहता है। ईसाइयों का यह भी मत है कि परोपकार के कारण ईश्वर ने अपने पुत्र ईसा की बलि करा कर मनुष्य मात्र का उद्धार किया। महात्मा ईसा ने खान-पान-संबंधी नियमोपनियम अनावश्यक मान कर यह विधान डाक्टरी मत का मुखापेक्षी बतलाया, अर्थात् यह कहा कि जो वस्तु जिस के स्वास्थ्य को लाभकर हो वह उसे खा सकता है। इन्हीं के नाम पर ईसाई सन् चलता है। आप का मुख्य सिद्धांत क्षमा का था। औरों के साथ वैसा ही वर्ताव करो जैसा कि अपने प्रति उन का व्यवहार चाहते हो। यदि कोई एक गाल में तमाचा मारे तो बदला लेने के स्थान पर दूसरा गाल भी उस की ओर कर दो। कर्तव्य-पक्ष की आप ने ऐसी शिक्षा दी। कहा जाता है कि ईसाई धर्म भक्ति-प्रेमपूर्ण है। ईसा के कई बालचरित्र कृष्ण के ऐसे ही चरित्रों से मिलते है। हमारे यहाँ बालकृष्ण का पूजन पहली शताब्दी ईसवी में प्रचलित था। कुछ लोगों का कथन है कि यह पूजन-विधान ईसाई विचारों से यहाँ आया है। उस काल विचार इतनी शीघ्रता से नहीं फैलते थे, जिस से ये दोनों पूजन एक-से, अथच स्वतंत्र समझ पड़ते हैं। यदि ईसाई पूजन का कुछ प्रभाव पड़ा हो तो भी असंभव नहीं। अपने यहाँ बाल-चरित्रों के प्राचीनतम पूजक आभीर लोग थे, जो असीरिया (पाश्चात्य एशिया) से आए हुए कहे भी जाते हैं। अवनति करते-करते वही अब अहीर हो गए हैं। भगवान कृष्ण का बाल-काल आभीरों में ही बीता था, सो उन में बालकृष्ण का पूजन स्वाभाविक था। यह भी कहा जाता है कि शुद्ध भक्ति भारत में पहले-पहल स्वामी रामानुजाचार्य ही ने चलाई। स्वर्गवासिनी डाक्टर एनी बेसेंट का कथन था कि वे स्वामीजी ईसा के अवतार थे। पितृभाव की भक्ति हमारे यहाँ नवीन न थी, वरन् स्वयं 'गीता' में कथित है। हमारे यहाँ ऋषियों ने शांत, सख्य, शृंगार, वात्सल्य और दास्य भावों से भक्ति का वर्णन किया है। प्रह्लाद तथा ध्रुव की भक्ति ऐसी ही शांत कही गई है। दास्य-भाव की भक्ति हज़रत मोहम्मद, गोस्वामी तुलसीदास, हनुमान आदि की थी।

पापों की क्षमा

पाश्चात्य धर्मों में स्वीकार[१] द्वारा पाप-मोचन का भी विधान यहूदी तथा ईसाई मतों में था। मुसल्मानी मत में यह तौबा के रूप में है। कवियों ने लिखा भी है कि—

रात को ख़ूब-सी पी,
सुब्ह को तौबा कर ली।
रिंद के रिंद रहे,
हाथ से जन्नत न गई।

हमारे यहाँ यह विचार प्राचीन ग्रंथों में न था, यहाँ तक कि 'कन्फ़ेशन' और 'तौबा' का पर्याय-वाची हमारे यहाँ कोई नियत शब्द तक नहीं है। फिर भी इस प्रकार से पाप-शमन निर्बल-चित्त के लोगों को बहुत पसंद आया, जिस से गंगा, यमुना आदि के स्नानों से पापमार्जन की चाल हमारे यहाँ भी पाश्चात्यों से सीख कर लोगों ने निकाली। गंगा यमुना के नाम 'ऋग्वेद' में आए तो हैं, किंतु दो ही तीन बार। सरस्वती, विपासा (व्यासा) आदि के नाम वहाँ बहुत हैं। उन से मार्ग आदि देने के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई हैं, किंतु पाप काटने के लिए नहीं। पीछे के वैदिक साहित्य में उन की इतनी भी विनतियाँ नहीं हैं। 'गीता' में यमुना आदि का तो नाम नहीं है, किंतु महत्ता के कथन में गंगा का है। तथापि पापमोचन का लटका वहाँ भी नहीं। पीछे के नवीन पौराणिक साहित्य में ऐसे कथन आ गए हैं। कदाचित् कुछ अदृढ़चित्त लोगों को समझ पड़ता हो कि पाप के लिए दंड मिलना बहुत ही अनुचित है। पाप तीन प्रकार के होते हैं। एक तो अन्यों के ऊपर अपराध-संबंधी, दूसरे अपने ही ऊपर अपराध-संबंधी, और तीसरे माने हुए शास्त्रों में कथित विधिनिषेध-संबंधी। पहले और दूसरे प्रकार के पातक वास्तविक हैं और उन के बढ़ने से संसार-परिचालन में त्रुटि आती है। यदि इन के

[१] Confession.

विषय में दंड-विधान लुप्त हो जावे तो संसार बिगड़ेगा। इस बिगाड़ की मात्रा पातकों की मात्रा और उद्दंडता के अनुसार न्यूनाधिक होगी, किंतु पापों का भय दूर होने से संसार का बिगाड़ ध्रुव है। या तो हत्यारे को दंड मिले, या हत्या के भय की कमी से भावी हत्यारों द्वारा दोषरहित मनुष्यों का वध हो। अनावश्यक दंड कोई नहीं चाहता, किंतु उस की आवश्यकता के कारण वह अनिवार्य समझा जाता है। तीसरे प्रकार का वह पाप है जो पहले दोनों प्रकारों से असंबद्ध हो। वह वास्तव में दंड्य है नहीं, और यदि गंगाजी ऐसे पापों को काटें तो अच्छा ही करें। इसी तीसरे प्रकार के थोथे पाप काटने की इच्छा से ही बहुतेरे लोग प्रथम दो श्रेणियों के वास्तविक पापों को भी कुछ अंशों में भूल-से जाते हैं।

तौबा और पाप स्वीकृति का वास्तविक प्रयोजन यही है कि इसी प्रकार से लोग भविष्य के पापों से बचें। जितने पाप हो गए, वे तो भोगने ही पड़ेंगे, केवल इस रीति से भविष्य के लिए चरित्र-शुद्धिकरण का बहाना समझा जाता है। फिर भी अधिक संख्या में लोग इन आज्ञाओं से पाप का भय मात्र छोड़ते हैं, और भविष्य के लिए जैसे के तैसे पापी बने रहते हैं। इन्हीं विचारों के प्रभाव से हमारे यहाँ और भी सुगमता आ गई है और पाप-स्वीकार तथा वास्तविक पश्चात्ताप-पूर्ण तौबा की भी आवश्यकता न रही। केवल एक डुबकी लगा ली और सारे पाप जल कर राख हो गए। स्वीकृति और वास्तविक पाश्चात्ताप तक के कष्ट न रहे। एक बार गया कर ली और सात पुश्तों के पूर्वपुरुष तथा पुत्र-पौत्र तर चुके। यदि हमारे पिता गया कर चुके हैं तो हम जन्म भर कितने ही घोर से घोर पाप करें, तरे बैठे ही हैं। कवियों ने यहाँ तक कह डाला कि—

कुरु मन पातकमखिलं भयमिहनैव।
जह्नुसुता यदि विलसति भूमिगतैव॥

* * *

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतै ब्रजराज।
अपने अपने विरद की दुहुन निबाहन लाज॥

पातकी पावक हौ तुम राम रहैं हम पातक के मद माते।
याते डरैं न रहैं निसिवासर हैं हमते तुमते यहु नाते॥

मानों भगवान क़सम खाए बैठे हैं कि कितनी भी हत्याएँ करो, डाके डालो, पराई स्त्रियाँ छीनो, तारना हमें है ही। मरती बार एक बार राम-राम कह दो और सीधे वैकुंठ चले जाओ। ऐसा सीधा लटका छोड़कर जीवन-पर्यंत पापों से बचने का पट्राग कौन सिर लगावे? निदान समझना चाहिए कि ऐसे थोथे विचार अपने नहीं हैं, वरन् बाहर से आए हैं, और उन लोगों के भी ऊँचे विचारों में से नहीं हैं।

पाश्चात्य धर्म

अब पाश्चात्य धर्मों के विषय पर हम फिर से आते हैं। ईसा मसीह ने तेईस वर्ष साधारण जीवन बिताया। अनंतर सात वर्ष वे क्या करते रहे, सो अज्ञात है। कुछ लोगों का कथन है कि इन दिनों उन्होंने भारत में आकर यहाँ के धार्मिक विचारों का अनुशीलन किया। यह कथन कोरी संभवनीयता पर अवलंबित होने से अनैतिहासिक है। अनंतर तीस वर्ष की अवस्था से धर्म-प्रचार का कार्य आरंभ करके वे प्रायः पाँच साल यही काम पैलेस्टाइन में करते रहे और तब धार्मिक तथा राजनीतिक पार्थक्य के कारण यहूदी शासकों ने इन्हें क्रास पर बलि चढ़ा दिया। धार्मिक प्रचार के अतिरिक्त आप वैद्यक भी बड़े मार्के की करते थे। यहाँ तक कहा गया है कि इन के छू देने तक से बहुतेरे असाध्य रोगी अच्छे हो गए। चरित्र भी इनका बहुत ऊँचा था। इन कारणों से तथा शासकों के अत्याचारों से, लोग बहु-संख्या में इन के पीछे लगे रहते थे। अतएव इन की भलाइयों के कारण शासकों के प्रतिकूल प्रजा का असंतोष बढ़ता था। यह शासकों के अत्याचारों की असान्यता पर भी बल देते थे। इसीलिए इन्हें क्रास पर चढ़ाने की आज्ञा हुई। कुछ दिनों तक आप छिपे रहे। अंत में बारह शिष्यों के साथ एक भोज में संमिलित हुए। तेरहवें आप थे। इन्हीं में से किसी ने पुलीस को पता दे दिया और इन का अंत हो गया। इसी से ईसाइयों में तेरह की संख्या अशुभ मानी जाती

है। कहते हैं कि तीन दिन पीछे आप फिर जीवित हो गए और कुछ दिनों तक इधर उधर लोगों से मिलते रहे। अंत में चालीसवें दिन निश्चित-रीत्या चल बसे। आप मैरी नाम्नी बे-व्याही माता के पुत्र थे। जोज़ेफ़ आप के पिता कहे जाते हैं। पुनर्जीवन के विषय में कुछ लोगों का कथन है कि इन के भाई इन्हीं के-से थे, सो उन्हें देखकर ऐसा भ्रम कुछ लोगों को हुआ होगा। कुछ अन्यों का विचार है कि क्रास पर आप सक्षत तो हो गए होंगे किंतु मरे न होंगे। किसी ने इन्हें उतार लिया होगा और चालीस दिन पीछे इन की मृत्यु हुई होगी। ईसा के बारह शिष्यों में से एक टॉमस भारत में धर्म-प्रचारार्थ आकर मदरास प्रांत में रहा। उस के पूर्व से ही प्रायः दस हज़ार यहूदियों का वहाँ बस जाना कहा गया है। संभवतः उन्हीं के बीच टॉमस भी रहे होंगे, परंतु उन की अपमृत्यु हो गई और उन का कोई प्रभाव भारत पर न पड़ा। महात्मा ईसा ने त्रिदेव का विचार न चलाया। इन के पीछे कुछ ईसाइयों का सिद्धांत हुआ कि ईसा और मसीह दो आत्मा थे। जब ईसा ने धर्म प्रचार आरंभ किया तब मसीह उन के शरीर में प्रविष्ट हुए और क्रास के पूर्व उन्हें छोड़ गए। यह विचार ईसाइयों में चल न सका। अनंतर ईजिप्ट (मिश्र देश) में जो त्रिदेव का विचार था, वह ईसाई मत में वहीं से उठ कर आया, जिस के अनुसार पिता, पुत्र और पवित्रात्मा त्रिदेव हुए। कुछ ईसाइयों का कथन है कि भारत में अवतार का विचार पैग़ंबरवाद से आया है, किंतु यह अपने यहाँ 'गीता' के समय से चल रहा है, जब कि पैग़ंबरवाद का पता भी न था। वास्तव में स्वयं पैग़ंबरवाद अवतार से निकला हुआ जान पड़ता है। ईसाई मत में कैथलिक और प्रोटेस्टैंट की दो प्रधान शाखाएँ हैं। कैथलिक प्रतिमा-पूजक हैं किंतु प्रोटेस्टैंट नहीं। रोम के पोप कैथलिक लोगों के प्रधान पादड़ी हैं। जर्मनी के लूथर ने प्रोटेस्टैंट मत चलाया। ईसाई धर्म की अनेकानेक उपशाखाएँ हैं। इंजील[1] ईसाइयों की धर्मपुस्तक है। इंजील और तौरीत[2] मिल-कर बाइबुल है। मुसल्मान लोग चार महाशयों को साहबे-किताब मानते हैं,

---

[1] New Testament [2] Old Testament

अर्थात् मूसा, दाऊद, ईसा और मोहम्मद को। ये चारों पैग़ंबर भी हैं। इन के अतिरिक्त और बहुत से पैग़ंबर हैं। अब मुसल्मानी मत का कथन चलता है।

मदीना और मक्का से संबद्ध अरब प्रदेश तथा तुर्किस्तान में प्रतिमा-पूजन का बड़ा बल था। तुर्क-प्रदेश के ही बादशाह कनिष्क बनारस से लेकर फ़ारस तक के शासक थे। पेशावर इन की राजधानी थी। इन के पूर्व भारत में तीसवीं चालीसवीं शताब्दी बी० सी० में हरप्पा और महेंजो दारो के अनुसार शिवलिंग-पूजन अनार्यों में प्रचलित था। वैदिक आर्यों ने प्रतिमा-पूजन की निंदा की। यही दशा औपनिषत्काल में रही, केवल 'सद्विंश उपनिषत्' में दैवत प्रतिमाओं के हँसने, रोने आदि के कथन हैं, जिन से प्रतिमा-पूजन अनार्यों में ही समझ पड़ता है, जैसा कि अन्यत्र कहा जावेगा। बौद्धमत-प्रचार से आर्यों में भी प्रतिमा-पूजन बढ़ा और तुर्क-शासन से उस में बहुत वृद्धि हुई। अतएव प्रतिमा-पूजन भारतीय विधान तो था, किंतु पाश्चात्य एशिया के प्रभाव से हमारे यहाँ इस की वृद्धि बहुत हुई। हज़रत मोहम्मद उस वंश में उत्पन्न हुए जो प्रतिमा-पूजकों का मुख्य गुरु था। आप के पूर्वपुरुष मक्के के प्रसिद्ध पूजनालय के पुजारी थे। आप ने जेरूजलम के मतों की मुख्यता पर श्रद्धा रक्खी, और प्रतिमा से संबद्ध देवताओं को छोड़ कर एकेश्वरवाद को ग्रहण किया। यहूदी मत का कथन था कि एक पैग़ंबर भविष्य में होने को है। आप ने कहा कि मैं वही होने वाला पैग़ंबर हूँ। यहूदियों को भी अपने नवीन मत में समेटने के विचार से आप ने उन के खानपान-संबंधी नियम थोड़े ही से परि-वर्तन के साथ मान लिए, तथा इब्राहीम को अपना पूर्वपुरुष बतलाया, यद्यपि इस कथन में ऐतिहासिक तथ्य नहीं समझा जाता। ईसाई मत भक्तिपूर्ण एकेश्वरवाद को लिए हुए प्रधानतया कर्तव्य पर चलता था।

महात्मा मोहम्मद ने एकेश्वरवाद पर आधारित अपना कल्मा तो रक्खा, किंतु यहूदियों के नियम लेकर प्रधानतया विश्वासात्मक मुस्लिम धर्म चलाया। इस पर भी यहूदियों ने आप को पैग़ंबर न माना और अंत में उन को प्रसन्न करने का प्रयत्न भी इन्हों ने छोड़ दिया। इन्हों ने अपने पैतृक विचारों में जो

भारी परिवर्तन किया, उस से मदीने में विभ्राट् का प्रारंभ हुआ। इस गड़बड़ में तर्कों के अतिरिक्त शस्त्रास्त्र-प्रहार की नौबत आई, जिस से दुःखित हो कर आप को मदीने से मक्के जाना पड़ा। यह घटना सन् ६२२ की है, जिस से मुसल्मानी हिजरी सन् का प्रारंभ होता है। धर्म-संबंधी मामलों में शस्त्रास्त्र-प्रहार का झगड़ा दूसरों के कारण से उठा, किंतु मक्के में जाकर आप ने भी उसे चलाया या आप को वह परिस्थितियों के कारण चलाना पड़ा। जो हो, मुस्लिम धर्म-वृद्धि में बल-प्रयोग चल अवश्य पड़ा। मक्के में प्रसिद्ध प्रतिमालय था। वहाँ प्रबल पड़ कर महात्मा मोहम्मद ने प्रतिमाएँ तोड़वा डालीं और उसी को अपने मत का पूजनालय बनाया। एक काला पत्थर उस में ऐसा था जिस का पूजक चुंबन किया करते थे। यह रस्म आप ने मुसल्मानों के लिए भी जारी रक्खी। वहाँ हर साल एक मेला हुआ करता था। यह भी स्थापित रहा। उस में अब भी मुसल्मान लोग मेले भर खटमल, मक्खी आदि तक की जीवहिंसा नहीं करते, केवल एक ऊँट की बलि दी जाती है। वहाँ पुरुष लोग बाल मुँड़वाते हैं तथा स्त्रियाँ थोड़ी सी लट कटवा डालती हैं। ये रीतियाँ हिंदुओं के तीर्थों से मिलती हैं। इंजील के पुराने खंड तौरीत में यहूदियों का धर्म कथित है। नए भाग में ईसाइयों का और क़ुरान में मुसल्मानों का। ज़बूर दाऊद की पुस्तक मानी गई है। यही चारों मुख्य धर्मपुस्तकें हैं तथा मूसा, दाऊद, ईसा और मोहम्मद मुख्य पैग़ंबर। इन्हीं पुस्तकों में से किसी को मानने वाले किताबी हैं।

महात्मा मोहम्मद ने प्रतिमा के प्रतिकूल बहुत कड़ाई से उपदेश दिया। एकेश्वरवाद तथा मोहम्मद का बसीठीपन, ये दोनों सिद्धांत मुसल्मानी मत के मुख्यांग हैं। ला इलाह इल्लिल्लाह, मोहम्मद रसूलिल्लाह (सिवा ईश्वर के कोई सबल नहीं, मोहम्मद ईश्वर के बसीठी हैं) इस मत का कल्मा है। जो इसे न माने, वह मुसल्मान नहीं। इस का पहला भाग तो 'केनोपनिषत्' का मुख्यांग है, केवल पैग़ंबरपन नया है। मोहम्मद के पीछे उत्तराधिकार का झगड़ा उठा, जिस से इस मत में सुन्नी, शिया के दो भाग हो गए। सुन्नी अबूबक्र, उमर, उस्मान और रसूल के दामाद एवं चचेरे भाई

अली को खलीफ़ा मानते हैं और शिया उन्हीं अली तथा तत्पुत्र हसन और हुसैन को। वे प्रथम तीन सुन्नी खलीफ़ाओं को ग़ासिब कहते हैं तथा उन पर तबर्रा बोलते हैं, जिस से सुन्नी शियाओं के झगड़े भी हो जाते हैं। जब अरबों ने फ़ारस को जीता, तब फ़ारसी राजकुमारी बानो का हुसैन से विवाह हुआ। हसन के तथा इसी विवाह के वंशधर पैग़ंबर के संतान हैं। फ़ारस वाले अपनी राजकुमारी के कारण शिया हुए। इस प्रकार अधिकतर फ़ारसी मुसल्मान शिया हैं और अरबी एवं शेष मुसल्मान सुन्नी। प्रायः दो सौ वर्षों के पीछे मुसल्मानों में सूफ़ीवाद चला, जो सिंध में आकर हिंदू अद्वैतवाद से प्रभावित हो कर समय पर अहिंसा की ओर भी झुका। सूफ़ी इब्न महाशय जीवात्मा और परमात्मा को ब्रह्म की सत्ता के दो पटल मानते हैं। सूफ़ीमत मनुष्य में नफ़्स (इंद्रिय), रूह (आत्मा), क़ल्ब (हृदय) और अक़्ल (बुद्धि) मानता है तथा इंद्रियदमन श्रेय बतलाता है। क़ल्ब और रूह द्वारा साधन का कार्य चलता है। क़ल्ब पर प्रतिबिंब पड़ने से मनुष्य को बाह्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। बुद्धि ज्ञान की मुख्य साधिका है। सूफ़ी लोग चार जगत मानते हैं, अर्थात् आलमे नासूत (भौतिक जगत), आलमे मलकूत या अरवाह (चित् जगत), आलमे जबरूत (आनंदलोक) तथा आलमे लाहूत (सत्संसार या ब्रह्मलोक)। क़ल्बवाला सिद्धांत हमारे बिंब-प्रतिबिंब-वाद से मिलता है। सूफ़ीमत ब्रह्मवाद एवं एकेश्वरवाद को प्रधानता देकर प्रेम-पूर्ण रागात्मिका भक्ति तथा विश्वासवाद को लेता हुआ पैग़ंबरवाद-गर्भित ख़ोदावाद का भी सहायक था, किंतु अन्य मतों के देवी-देवताओं का अपमान नहीं करता था। वह भारतीय मत समुदाय की सहिष्णुता को पूर्णतया धारण किए हुए था, किंतु खोदावाद की कर्कशता के कारण भारत में चल न सका।

हज़रत अली ने धर्म का मुख्यांश सत्य को माना। एक विजित व्यक्ति पर क्रुध हो जाने से आप ने इस कारण से उस का बध न किया कि ऐसा करने से वे ही क्रोध से विजित हो जावेंगे।

परिवर्त्तन

हमारे प्राचीन और वर्तमान धर्मों के बीच पौराणिक साहित्य पड़ता है। धार्मिक विचारों से श्रीमद्भागवत का प्राधान्य है, यद्यपि यह ग्रंथ नवीं शताब्दी का समझा जाता है। पहला पुराण कृष्णद्वैपायन व्यास कृत कहा जाता है। वह अब अन्य ग्रंथों में संमिलित हो कर नष्ट हो चुका है। दूसरे पुराण मगधनरेश सेनजित के समय में बने, तीसरे नंद-वंश के समय और चौथे गुप्त काल में। ऐतिहासिक दृष्टि से 'वायु-पुराण' सर्वोत्कृष्ट है, तथा 'ब्रह्म-पुराण,' 'हरिवंश' और 'विष्णुपुराण' भी श्रेष्ठ हैं।

तीसरी शताब्दी बी० सी० में मौर्य्य-सम्राट् अशोक-वर्द्धन ने पाश्चात्य एशिया तथा अन्य देशों में बौद्धधर्म प्रचारार्थ धार्मिक पुरुष भेजे। इसी प्रकार के प्रयत्न पीछे भी होते रहे। इन प्रयत्नों का एक फल यह भी हुआ कि भारत के पश्चिम तथा उत्तर-पाश्चात्य देशों में भारतीय बौद्ध, शैव आदि मतों के सिद्धांत फैल गए एवं भारतीय संस्कृति का मान उन बाहरी देशों में अच्छा हुआ, जिस से वहाँ के लोग यवन, शक, तुषिरा (कुशान), हूण आदि जब भारत में विजयी हो कर बसे, तब उन का भारतीय मतों से कोई वैमनस्य न हुआ और वे अति शीघ्र हमारी जनता में मिलते गए।

प्रतिमा और तीर्थ

प्रतिमा मुख्यतया पाश्चात्य एशिया की संस्था है। मिश्र देश में सूर्य का पूजन रा नाम्नी मूर्ति से होता था। असीरिया में छः हजार बी० सी० के पूर्ववाले शिलालेख मंदिरों तथा प्रतिमा-पूजन की साक्षी देते हैं। १५०० बी० सी० में इश्तार देवता की मूर्ति मेसोपोटैमिया से मिश्र देश को बड़े गाजे-बाजे के साथ ले जाई गई थी। भारत में 'ऋग्वेद' द्वारा प्रकट है कि आदिम निवासी शिश्न-पूजक थे। इस कथन से यह निश्चय नहीं होता कि वे सजीव विशेषांग के पूजक थे अथवा उस की प्रतिमा मात्र के। "न तस्य प्रतिमास्ति" का वैदिक वचन आया है, जिस से जान पड़ता है कि उन अनार्यों में प्रतिमा-पूजन चलता था, जिस का इस ऋचा से अपने लिए निषेध किया गया। इतना निश्चय है कि

आर्यों में उस काल प्रतिमा-पूजन न था। जैसा कि ऊपर आ चुका है, 'ऋग्वेद' में रुद्र शिव साधारण देवता थे, किंतु 'यजुर्वेद' तथा 'अथर्ववेद' में यह ईश्वर हो गए। आठ-दस साल हुए हरप्पा और मोहनजोदड़ो नामक दो स्थानों में खोदाई होने से ३० वीं या ४० वीं शताब्दी बी० सी० की भारतीय सभ्यता के प्रचुर चिह्न मिले हैं। योरोपियनों का विचार है कि यह सभ्यता अवैदिक थी, क्योंकि उन की सम्मति में भारतीय आर्य-सभ्यता का समय प्राय: २००० बी० सी० से चलता है। तिलक महाशय वैदिक समय प्राय: ४००० बी० सी० से मानते हैं। हरप्पा और मोहनजोदड़ो में शिवलिंग की मूर्तियाँ निकली हैं। शिव का पूजन विशेषतया 'यजुर्वेद' के समय से चलता है। समझ पड़ता है कि अनार्य लिंग-पूजक थे ही, साथ ही साथ भूत-प्रेतों को भी पूजते थे। यह पूजन भय के कारण था, और इधर रुद्र का भी वैदिक पूजन विशेषतया भय-मूलक होने से उन के पूजन-विधान से साम्य रखता था। इस लिए उन्हों ने रुद्र को अपनाया और इन के गणों में उन के भूत-प्रेतादि आ गए तथा उन का लिंग-पूजन शिवलिंग से संबद्ध हो गया। इस प्रकार अनार्यों के प्रभाव से यजुर्वेद के समय तक शिव का माहात्म्य भी बढ़ गया। हरप्पा और मोहनजोदड़ो में शिवलिंग निकलने से यह मानना पड़ेगा कि उस सभ्यता का समय 'ऋग्वेद' तथा 'यजुर्वेद' के बीच में था, या यह समझना पड़ेगा कि शिव आदि से ही अनार्यों और आर्यों इन दोनों के देवता थे, तथा पहले-पहल आर्यों ने 'ऋग्वेद' में शिवलिंग-पूजन की घोर निंदा की और फिर 'यजुर्वेद' के समय में ही शैव माहात्म्य बढ़ गया। जब शिव 'ऋग्वेद' के देवता थे ही, तब उस में शिवलिंग-पूजन की निंदा समझ में कम आती है। इस से यही जान पड़ता है कि अनार्य पहले लिंग-पूजक मात्र थे और पीछे आर्य-प्रभाव से शिवलिंग-पूजक हो गए तथा उन के प्रभाव से आर्यों में शैव माहात्म्य बढ़ गया।

यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि भारत में तीसवीं चालीसवीं शताब्दी बी० सी० में प्रतिमा-पूजन चलता था, जिसे आर्यों ने पौराणिक समय-पर्यंत न माना। 'सद्विंश उपनिषत्' में दैवत् प्रतिमाओं के हँसने, खेद करने, नाचने आदि का कथन है। यह वर्णन कुछ भद्दा होने से केवल अनार्य प्रतिमाओं से

संबद्ध समझ पड़ता है, क्योंकि उन के प्रति पूज्य भाव उस काल के साहित्य में अप्राप्त है। बौद्धकाल के पूर्व केवल लक्ष्मी की मूर्ति मिलती है, जिस में दोनों ओर से दो हाथी सूँड़ से पानी चढ़ा रहे हैं। बीच में मूर्ति है नहीं, किंतु हाथियों के कारण मानी गई है। यह मूर्ति पूजी भी जाती थी, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। केवल मूर्ति के होने से उस का पूजन किसी अन्य प्रमाण के अभाव में अनिश्चित है। हीनयानीय बौद्ध साहित्य में प्रतिमा-पूजन की आज्ञा नहीं है, किंतु महायानीय साहित्य के समय से इस का प्रचार है। पहली बौद्ध प्रतिमाएँ लक्ष्मी की प्रतिमा के समान सांकेतिक हैं, अर्थात् जातकों आदि में लिखित अथ च अन्य घटनाओं से संबद्ध हैं। इतर मूर्तियों से भगवान बुद्धदेव की मूर्ति वहाँ मानी गई है। साँची में ऐसी सांकेतिक मूर्तियाँ बहुत हैं। यह दूसरी शताब्दी बी० सी० की कारीगरी है। पुरानी से पुरानी सांकेतिक बौद्ध मूर्तियाँ तीसरी शताब्दी बी० सी० की मिलती हैं, तथा दूसरी शताब्दी बी० सी० की सीधी-सीधी बौद्ध मूर्तियाँ प्राप्त हैं। पहली शताब्दी ईसवी के शिवलिंग मिलते हैं, तथा अन्य मूर्तियाँ भी मिलती हैं। समझ पड़ता है कि बौद्ध मूर्तियों के कुछ ही पीछे हिंदू मूर्तियाँ भी बनने लगीं। समय पर एलिफैंटा, अजंटा, कार्ली, इलोरा, खजराहो, भुवनेश्वर, कांची, मदुरा, काश्मीर आदि अनेकानेक स्थानों में बढ़िया पाषाण-मूर्तियाँ और मंदिर बने। इन में कुछ गिरि-गुफाएँ काट-काट कर एक ही एक पत्थर के मंदिर, मूर्ति इत्यादि तैयार हुए, जिन में पाषाण काम के अतिरिक्त रंगों का भी बढ़िया प्रयोग पाया जाता है। इन के अतिरिक्त पाषाण-मंदिर सैकड़ों हजारों बने। ईंट चूने के भी मंदिर बहुत बने और बन रहे हैं।

ईसाई धर्म में चित्रपटों आदि के द्वारा देवताओं की मूर्तियाँ केवल साम्य के लिए दिखलाई जाती थीं। योरोपीय गिरजाघरों आदि में भी ईसा, मेरी आदि के अतिरिक्त संतों के भी हजारों पाषाण-चित्र बनाए गए तथा भीतों में उन के संबंध में कारीगरी की गई। फिर भी उन के यहाँ हमारे समान प्रतिमा-पूजन नहीं है, यद्यपि ईसा की प्रतिमाओं के आगे मोमबत्ती जलाई जाती है और लोग उन को प्रणाम करते हैं, विशेषतया स्त्रियाँ। पाश्चात्य

एशिया में प्रतिमा-पूजन का बड़ा बल था, यहाँ तक कि बल-प्रयोग द्वारा मुसल्मान बनाए जाने पर भी बहुतेरे लोग मस्जिद में नमाज़ पढ़ते समय तक दामनों में प्राचीन प्रतिमाएँ छिपाए रखते थे। अब मुसल्मानी मत के प्रचार से वहाँ से प्रतिमा-पूजन उठ गया है। हज़रत मोहम्मद ने स्वयं अपनी भावी क़ब्र का पूजा जाना मना किया था, किंतु मुसल्मानों में क़ब्रों का मान है बहुत अधिक, और यद्यपि कहने को वे क़ब्र पूजते नहीं, तथापि वास्तव में मान की यह अधिकता पूजन की हद तक पहुँच ही जाती है। अली ने मुसल्मानी मत में विश्वास के अतिरिक्त कर्तव्य-पालन पर ज़ोर दिया था। एक भावी अनुगामी के सीधा मत पूछने पर आप ने एक बात में सत्य को धर्म का तत्व बतलाया था, तथा एक बार जब आप विपक्षी को पराजित कर के उसे मारने ही को थे, तब उस ने इन के मुख पर थूक दिया। इस पर आप यह कह कर उस के बध से हट गए कि अब क्रोध करने से मैं क्रोध से पराजित हो जाऊँगा। यह कर्तव्य-पालन का उदाहरण था। फिर भी इस मत में मुख्यता विश्वास की है। अपने यहाँ प्रतिमाओं की प्राण-प्रतिष्ठा भी होने लगी, जिस से उन से केवल साम्य-प्रदर्शन का काम न लिया गया, वरन् उन में विशिष्ट देवताओं का वास माना जाकर वे देवताओं के समान पूजी जाने लगीं। इस प्रकार योरोपीय प्रतिमाओं से हमारी प्रतिमाओं का मान बढ़ गया। कनिष्क के समय पहली शताब्दी ईसवी से प्रतिमा-पूजन का प्रचार भारत में विशेष हुआ।

समय पर नदियों, तालाबों, समुद्रों, तथा प्रतिमाओं के सहारे से हमारे यहाँ अनेकानेक तीर्थ-स्थान स्थापित हुए। सात पुनीत पुरियों का मान हुआ, बारह ज्योतिर्लिंगों का, तथा चार धामों का। धामों में बदरीनाथ, जगन्नाथपुरी, सेतबंध रामेश्वर तथा द्वारिका की गणना है; पुरियों में अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांची, उज्जयिनी, और द्वारिका की; तथा ज्योतिर्लिंगों में वैद्यनाथ (बिहार), विश्वनाथ (काशी), एकलिंग (मेवाड़), महाकालेश्वर (उज्जैन), घृश्नेश्वर (इलोरा), केदारनाथ (गढ़वाल), गोकर्णनाथ (खीरी), पशुपतिनाथ (काश्मीर), सेतबंध रामेश्वर (ठेठ दक्षिण), त्र्यंबकेश्वर (दक्षिण), सोमनाथ (गुजरात) आदि की। इन के अतिरिक्त गाँव-गाँव में देवमूर्तियाँ

हैं तथा प्रांत-प्रांत में प्रसिद्ध तीर्थ हैं। गंगा, यमुना, गोमती, सरयू, सरस्वती, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, नर्मदा, ताप्ती, सोनभद्र, व्यास आदि परम पुनीत नदियाँ हैं, तथा समुद्र की पुनीतता इन सब से बढ़ी हुई है। नदियों का कहीं भी स्नान पुण्य-प्रद है। मुख्य-मुख्य तीर्थ-स्थानों, मंदिरों आदि पर सैकड़ों पंडे आदि रहते हैं, जिन का पूजना बहुत प्रचलित हो गया है। यद्यपि "प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्" का वचन है, जिस से यह पूजन-विधान निम्न श्रेणी का है ही, तथा शास्त्रों में भी प्रतीकोपासना अहंग्रह के आगे हेय है, तथापि भारतोय सहिष्णुता इतनी बढ़ी हुई है कि जो लोग मानसिक उन्नति में प्रतिमा-पूजन के बहुत आगे बढ़ गए हैं, वे भी औरों को क्लेश न पहुँचाने के लिए न केवल प्रतिमा की निंदा नहीं करते, वरन् उन की पूजा भी कर ही लेते हैं। आजकल हमारे यहाँ शिव, अवतार, तीर्थ तथा प्रतिमा-पूजन ही में हिंदू धर्म का रूप माना जाता है, संध्या-तर्पण, सूत्रकाल विधान भी कुछ कुछ चलता है, किंतु बहुत कम। जपयोग 'गीता' में कथित है और कुछ चलता भी है। शेष हिंदुत्व प्रतिमादि पर ही अवलंबित है।

गीता (३—२९) में आया है कि निम्न श्रेणी का पूजन करने वाले भी यद्यपि धर्मतत्व से च्युत हैं, तथापि करते तो आखिर देव-पूजन ही हैं, सो "तानकृत्स्नविदो मंदान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्" (उन अल्पज्ञों का विश्वास ज्ञानी अधिक न हिलावे)। फिर भी 'गीता' में उन्हें 'अकृत्स्नवित् मंद' कहा ही है और यह भी कहा है कि वे धर्मतत्व से च्युत हैं। अतएव एक प्रकार से स्वयं 'गीता' में उन के विश्वासों की निंदा है। फिर भी यदि वे उच्चतर ज्ञान या पूजन-विधान तक नहीं पहुँच सकते, तो अनुत्साह द्वारा उन का थोड़ा बहुत धार्मिक कृत्य न हटाया जावे, यही 'गीता' की आज्ञा है। मूर्तियों और तीर्थों के सहारे, संसार में आलसी पुरुषों की बहुत वृद्धि है। वे लोग परिश्रम तो कुछ भी नहीं करते, या कम से कम ऐसा परिश्रम नहीं करते, जिस से देश में उपज की वृद्धि हो, किंतु ९० प्रतिशत श्रमजीवियों से मजे में रहते हैं। देश, काल, पात्र का कथन तो दान-पात्रों के विषय में वे प्रायः किया करते हैं, किंतु यह कभी नहीं सोचते कि सब से बढ़ कर कुपात्र वे ही हैं। देश के अर्थ में

तो वे तीर्थ-स्थान को समझते हैं, काल में - रामनवमी, जन्माष्टमी आदि को और पात्र में अपने को। जो लोग ऐसे अशुद्ध दान किया करते हैं, वे वास्तविक देश, समय और पात्र के संबंध में नितांत अशक्त हो जाते हैं। आजकल भूचाल के कारण विहार दान के लिए देश है, समय भूचाल के कारण आया है और पात्र वे हैं, जिन्हों ने विना किसी अपराध के सब कुछ खो दिया है, और जिन के प्राण तक धनाभाव के कारण संकट में हैं, यद्यपि हैं वे श्रमी और देश के भूषण; किंतु अकृतस्नवित् मंदों की मूर्खताओं के कारण उन के पास उचित दान के लिए धनाभाव है। उन्हें तो चंद्र या सूर्यग्रहण का समय दान-काल समझ पड़ता है। "एक गुना देय, हज़ार गुना पावै, गुपित देय सो परघट पावै", यह मंत्र दान के लिए अंतिम निर्णय है। वे दान में भी अच्छे से अच्छा सौदा करते हैं। यह नहीं जानते कि यह सारी धोखेबाज़ी है। गुप्त दान का उन्हें यह अर्थ नहीं समझ पड़ता कि यश-लिप्सा छोड़ कर दान दिया जावे, उन्हें दिखता है कि नदी में धन फेंकना गुप्त दान है, जिसे खोज कर मल्लाह लेवें।

'गीता' में लिखा है कि संन्यास और योग को मिलाने से कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान मिलता है, और कर्तव्य-परायण पुरुष संन्यासी-योगी है, निरग्नि या अक्रिय नहीं (६, १)। 'ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति' (५, ३) और 'योगः कर्मसु कौशलम्' (२—५०) के वचन 'गीता' में आए हैं। इन का प्रयोजन है कि अपने लिए इच्छा न करो, किसी से शत्रुता न करो, किंतु करते कुछ अवश्य जाओ। इन तीनों बातों के मिलाने से स्वाध्याय, और परोपकार कर्तव्य पाए जाते हैं। यह भी कहा गया है कि—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयं।
पुण्यंपरोपकाराय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात्

अट्ठारहौ पुराण में व्यास वचन द्वै सार।
पर उपकार सु पुन्य है पाप सु पर अपकार॥

अतएव देखा जाता है कि 'गीता' के पीछे हम ने न केवल अपना पुराना वैदिक धर्म (निर्गुणवाद) नहीं चलाया, वरन् राजनीतिक उन्नति तथा सामाजिक संगठन के विचारों से शक, तुर्क, आभीर, सोदियन, गुर्जर, हूण आदि को मिलाने के लिए उन की मानसिक और धार्मिक उन्नति या अवनति तक पहुँचने को अपना धर्म ही चौपट कर डाला। इन सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों की वेदी पर धर्मतत्व का बलिदान करना उचित था या नहीं, इस प्रश्न पर हम कोई मत नहीं प्रकट करते हैं। हमारा केवल इतना कथन है कि उन प्रश्नों के सुलझ चुकने पर क्या अब भी हमें अपने प्यारे धर्म और देशहित का केवल इस लिए बलिदान करना उचित है कि एक बार स्थापित धर्म बदलना न चाहिए। वास्तव में बात यह है कि आजकल जनसंख्या की अतिवृद्धि से देश के सामने आर्थिक प्रश्न ऐसा विकराल रूप धर के उपस्थित है, कि चाहिए या न चाहिए, अब तो परिवर्तन हो ही रहा है, और रुक नहीं सकता। धार्मिक परिवर्तन भी हमारे यहाँ सदैव से होता आया है, और समाज को जिस-जिस प्रकार से संगठन की आवश्यकता थी, वैसे ही उपदेश हमारे आचार्य देते आए हैं। इस लिए हम को अब हूणवाद आदि से उत्पन्न झमेले छोड़ कर 'गीता' का धर्म पकड़ना ही होगा।

जाति

'ऋग्वेद' में जाति-भेद न था। ब्राह्मण उस में यज्ञ का एक अधिकारी मात्र है। शासकगण राजन्य वर्ग हैं। 'यजुर्वेद' में ऐसे भाव उठते हैं कि मैं तो ऐसा ऋत्वज पसंद करता हूँ जो न केवल स्वयं यज्ञ कराता हो, वरन् ऋत्वज का संतान भी हो। यहाँ जातिभेद की ओर झुकाव समझ पड़ता है। 'अथर्ववेद' में ब्राह्मण एक जाति है, जिस के अधिकार इतरों से बड़े हैं। किसी स्त्री को यदि एक ब्राह्मण चाहता हो और दस अब्राह्मण, तो भी वह ब्राह्मण ही को मिले। सहस्रार्जुन के अत्याचारों से प्रजा ने उन के प्रतिकूल विद्रोह खड़ा किया। प्रजा के नेता होकर परशुराम ब्राह्मण ने क्षत्रियों का नाश किया। यह घटना-समूह भगवान रामचंद्र के पूर्व नारीकवच के समय में हुआ था। उस काल जातिभेद भलीभाँति स्थिर था। अनंतर सूत्र-काल

में चतुर्वर्ण और चारों आश्रमों के संबंध में नियम दृढ़ता पूर्वक स्थापित हुए। ब्राह्मणों से अन्य जातियों की कन्याएँ भी व्याही जाती थीं, किंतु ब्राह्मण-कन्याएँ क्षत्रियों आदि के साथ बहुत कम व्याही गईं। गौतम बुद्ध के समय महाराजा उदयन की तीन रानियों में एक ब्राह्मणी थी, एक क्षत्रिया और एक वैश्या। समय के साथ सीदियन, कुशन, शक आदि हिंदुओं की यथायोग्य जातियों में मिलते रहे। आठवीं शताब्दी के एक यायावर ब्राह्मण की स्त्री क्षत्रिया थी। इस के पीछे मिलित विवाहों के उदाहरण नहीं मिलते। जाति-भेद एक सामाजिक संस्था है, न कि धार्मिक। इस ने मुसल्मानों के समय में हिंदू धर्म और समाज की अच्छी रक्षा की, और उस काल के हमारे ऋषियों ने इस का मान भी किया। आजकल इस से हानि ही हानि समझ पड़ती है।

राज्य और सभ्यता

वेदों में राजन्य वर्ग और सम्राटों तक के कथन हैं, किंतु यह निश्चय नहीं है कि उन लोगों के राज्य कितने बड़े थे। महाराजा रामचंद्र के समय में उन के अतिरिक्त सुदास, जनक, रावण और बालि सम्राट् समझे जाते हैं। बहुत पीछे जनक विदेह का सम्राट् होना 'बृहदारण्यकोपनिषत्' में भी लिखा है। 'महा-भारत' के समय जरासंध, दुर्योधन और युधिष्ठिर समय-समय पर सम्राट् रहे। इति-हास भारत का सर्व-प्रथम सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य को समझता है। भारत था तो बड़ा देश, जो हमारा सम्हाला न सम्हला, किंतु बस हम सब कहीं गए। रेल, तार आदि का कोई प्रबंध था नहीं, सो साम्राज्य हमारा चलाया न चला और खंड-राज्य स्थापित हो गए। फिर भी सामाजिक और धार्मिक ऐक्य हिंदुओं ने बहुत अच्छा स्थापित किया। यह ऐक्य सैकड़ों राज्यों के अनैक्य होते हुए भी बहुत दृढ़ रहा, जिस से धर्म और नियम सर्वत्र एक से रहे। हिंदुओं को यह सामा-जिक सभ्यता बहुत महती देख पड़ी, और इस के आगे राज्य रंकप्राय समझ पड़े। समय पर राजभक्ति और देशभक्ति की महत्ता हमारी आँखों से ओझल हो गई, जिस से विदेशी लोग हमें सुगमता-पूर्वक जीत सके, क्योंकि युद्धविद्या और देशप्रेम की हमारे यहाँ समुचित उन्नति न हो सकी। हम ने अपना सारा पुरुषार्थ धर्म और समाज-संगठन में लगाया।

निर्गुण तथा सगुण ब्रह्म

इन दोनों वादों के संबंध में हमारे यहाँ ग्रंथों में धार्मिक महाशयों में मतभेद पाए जाते हैं, किंतु इन में अधिक तर्क-विस्तार की आवश्यकता समझ नहीं पड़ती। मनुष्य की शक्ति बहुत ही ससीम है, किंतु ब्रह्म-विस्तार सभी ओर से असीम है। समय और स्थल की ही असीमता पर विचार करने से हमारी बुद्धि चक्कर खाती है। स्थल कहाँ से चला है और कहाँ तक फैलता हुआ जा रहा है, इसी सरल प्रश्न पर समझ काम नहीं देती। यही दशा समय की है। आगे और पीछे दोनों ओर इस का फैलाव सीमा-रहित होने से चित्त उसे पकड़ नहीं पाता, और घबरा जाता है। जब ऐसे-ऐसे नित्य के बरते हुए मामले समझ में नहीं आते, तो ईश्वर का कहना ही क्या है? वस्तु हम हर समय देखते हैं, किंतु आगा-पीछा सोचने से उस के विषय में भी अज्ञेय-वाद ही मानना पड़ता है, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है। इन्हीं कारणों से ईश्वर के विषय में हमारे शास्त्रों ने 'नेति नेति' का कथन किया है। उस को हस्तामलक कर लेना असंभव है। इस के विषय में कबीर साहब कहते हैं कि—

> जो दीसै सो तौ है नाहीं, है सो कहा न जाई।
> सैना बैना कहि समझाऊँ, गूँगे का गुर भाई॥
> कोई ध्यावै निराकार को, कोइ ध्यावै साकारा।
> वह तो इन दोउन ते न्यारा, जाने जाननहारा॥
> भजूँ तो को है भजन को, तजूँ तो को है आन।
> भजन तजन के मध्य में, सो कबीर मनमान॥

इस प्रकार परमात्मा का भाव शब्दों द्वारा नहीं बतलाया जा सकता, वरन् इशारों से समझाया जा सकता है। प्रसिद्ध दार्शनिक 'स्पिनोज़ा' का कथन है कि निर्गुण कहने में भी हम उस में एक अभावात्मक गुण स्थापित करते हैं। तो भी हमारे ऋषियों ने ब्रह्म का वर्णन अन्वयवाची शब्दों से न करके व्यतिरेकवाची शब्दों से किया है, जैसा कि ऊपर कुछ विस्तार-पूर्वक

दिखलाया गया है। उपनिषदों का व्यतिरेकवाची वर्णन निर्गुणात्मक है और 'गीता' का विराट् रूप सगुणवाद का एक उदाहरण है। अहंग्रह निर्गुणात्मक है और प्रतीकोपासना सगुणात्मिका। पहला निष्कलवाद है और दूसरा सकलवाद। परमात्मा, परमेश्वर आदि शब्द निष्कल ब्रह्म से संबद्ध हैं और ईश्वर, त्रिमूर्ति, अवतार आदि सकल से। उपनिषदों तक निर्गुणवाद की प्रधानता है और 'गीता' से सगुणवाद की।

धर्म का आधार

धर्म के आधार विविध मतों के पृथक् हैं। कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का निश्चित सिद्धांत है कि वही कर्म-समुदाय श्लाघ्य है जिस से संसार में मनुष्य-जाति उन्नत हो। किसी के विश्वास चाहे जितने ऊँचे हों, और ज्ञान चाहे जितना सूक्ष्म, विस्तीर्ण या सत्य हो, यदि वह घातक, चोर आदि है, तो निंद्य है ही। ऐसी दशा में उस के सारे विश्वास या ज्ञान उसे महापुरुष न बना सकेंगे। यह भी प्रकट ही है कि कोई निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, अवतार, प्रतिमा आदि चाहे जिस को पूजे, यदि उस पूजन से उस के आचरणों में कोई उन्नति नहीं होती, तो वह पूजन वृथा है; और कोई भी पूजन करने से यदि उस के आचरण सुधरते हैं, तो वह पूजन उस के लिए ठीक है। इसी लिए 'गीता' आदि में किसी के उन्नतिकर विश्वास को हिलाने का निषेध है। अतएव धर्म का वास्तविक आधार आचार है न कि विचार। तो भी इतना देखना पड़ता है कि मनुष्य-जाति का अनुभव किस बात में कैसा है? अनुभव के अनुसार ही विविध क्रियाओं का मूल्य निर्धारित किया जाता है। जिस प्रकार के पूजन से संसार में सुकर्मी, श्रमी आदि पुरुषों की वृद्धि हो, वह ऊँचा माना जावेगा, और उस के प्रतिकूल नीचा। यदि गंगा-स्नान करके कोई निश्चय कर सके कि एक बार पाप काट कर अब पाप-पंक में न फँसूँगा, तो उस के लिए वह स्नान अच्छा है। यदि वह सोचे कि पाप तो सुगमता-पूर्वक स्नान से ही कट जावेंगे, फिर उन से बचने की क्या आवश्यकता, तो उस के लिए गंगा-स्नान पाप-वृद्धि का कारण हो कर बुरा हो जावेगा। यदि जगदीश के

दर्शन करके कोई भविष्य के लिए सुकर्मी बने, तो दर्शन से उसे पुण्य है, नहीं तो नहीं। वास्तव में जितने पूजनादि हैं वे स्वयं पुण्यकार्य न हो कर एक प्रकार की पाठशाला हैं। यदि उन से भविष्य के लिए सुकर्म-वृद्धि हो, तो वे श्लाघ्य है, नहीं तो नहीं। परोपकार स्वयं पुण्यकार्य है, किंतु पूजन स्वयं पुण्य-कार्य न हो कर एक मार्ग मात्र है, जिस से परोपकार-वृद्धि हो सकती है। इतना ही भजन, पूजन, भक्ति, ज्ञान आदि का धर्म से संबंध है। वे स्वयं पुण्य-कार्य नहीं हैं, वरन् यदि उन के प्रभाव से मनुष्य परोपकारी बने, तो वे श्लाघ्य हैं, नहीं तो नहीं। वे एक प्रकार की शिक्षा के साधन हैं, न कि स्वयं पुण्यकार्य।

हमारे उपनिषदों में ज्ञान की प्रधानता है, ईसाई, मुसल्मानी आदि मतों में विश्वास की, तथा बौद्ध एवं 'गीता' के धर्म में कर्तव्य-पालन की। 'छांदोग्योपनिषत्' में दो बार ऐसा कथन आया है कि ज्ञान में कमी से शिर गिर जायगा। 'बृहदारण्यक' में एक बार ऐसा कथन मात्र आया है और दूसरी बार कथन के साथ शिर गिर ही गया, अर्थात् अज्ञानी पुरुष का केवल अज्ञान के कारण निधन हो गया। इसी प्रकार कई उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान मात्र के कारण अनेक बार फलप्राप्ति के कथन हैं। यह कहा जा सकता है कि शुद्ध ज्ञान से सुकर्मों की वृद्धि बहुत दशाओं में अवश्यंभावी है। फिर भी उन स्थानों में केवल ज्ञान के कारण फलाफल मिलते हैं, उस ज्ञान अथवा अज्ञान-भव सुकर्मों या दुष्कर्मों के कारण नहीं। उपनिषदों के पीछे महात्मा गौतम बुद्ध ने आचार-सारगर्भित बौद्धमत चलाया, जिस में कर्तव्य की प्रधानता रक्खी गई, न कि ज्ञान मात्र की। 'गीता' में बादरायण व्यास भगवान ने भी कर्तव्य-पालन पर पूरा बल दे कर केवल निरग्नि तथा अक्रिय व्यक्तियों की निंदा की। पैग़ंबरवादी मतों में विश्वास की प्रधानता है। भक्ति, ज्ञान आदि का कथन उन में भी है, किंतु मुख्यता विश्वास की है। 'मोमिन' अर्थात् विश्वासी पुरुष उन के यहाँ श्लाघ्य है। चाहे उन विश्वासों के अनुसार उस ने काम कुछ भी न किया हो, फिर भी केवल विश्वासों के कारण ईश्वरीय न्याय में उसे थोड़ा बहुत लाभ अवश्य होगा।

स्वामी शंकराचार्य और तर्कवाद (आठवीं से १४ वीं शताब्दी तक)

हम ऊपर देख आए हैं कि केवल निर्गुण-ब्रह्ममूलक ज्ञानकांड हमारे बड़े-बड़े सुकर्मी दार्शनिकों तक को प्रसन्न न कर सका, और ईश्वर-भक्ति का छोड़ने वाला केवल कर्तव्यवादी बौद्ध मत भी त्यक्त हो गया। व्यासदेव का चलाया हुआ 'गीता' का धर्म निर्गुणवाद की प्रशंसा करता हुआ भी सगुण भक्ति-मूलक ईश्वर को लिए हुए कर्तव्यवादी था, जो संसार में दोनों हाथों से अपनाया गया। फिर भी समय के साथ पाश्चात्य एशिया से आई हुई जातियों ने हिंदू हो कर भी अपने पुराने प्रतिमा-पूजन, स्वीकृति से पाप-विमोचन आदि को न भुलाया, जिस से हमारे यहाँ धर्म में स्थूलता की खासी वृद्धि हुई। यह दशा देख कर स्वामी शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी में ठेठ दक्षिण से उत्तर भारत में आ कर हिंदू धर्म को फिर से उन्नत करने का प्रयत्न किया। उन्हों ने 'उपनिषत्' और 'गीता' इन दोनों को पूज्य मान कर तर्कवाद चलाया। उपनिषदों के प्राचीन शत्रु महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसावाद चलाया था। शंकर के समय में मंडन मिश्र एक धुरंधर पंडित और पूर्वमीमांसावादी थे। उन की धर्मपत्नी उन से भी बढ़ कर पंडिता थीं। स्वामीजी ने इन दोनों को वाद में पराजित करके बादरायण व्यासदेव के उत्तरमीमांसावाद के साथ औपनिषत्-पक्ष दृढ़ किया। स्वयं शैव हो कर तंत्र-मूलक पाशुपत मत को भी उन्हों ने खंडित करके उस के प्रधान आचार्य नीलकंठ को हराया। जैन और बौद्ध पंडितों का भी वादों में मान मर्दित करके शंकर स्वामी ने हिंदू मत को उन्नत बनाया। इन के द्वारा फिर एक बार 'गीता' तथा उपनिषदों का बोलबाला हुआ।

प्राचीन औपनिषत्साहित्य में प्रकृति, जीवात्मा, तथा परमात्मा के कथन तो आए थे, और उन के संबंध में विचार भी प्रकट हुए थे, किंतु उन के पारस्परिक संबंधों का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हुआ था। शंकर स्वामी ने 'तत्त्वमसि' के वाक्य से 'छांदोग्योपनिषत्' का मत अद्वैतवाद-पूर्ण सिद्ध किया। आप ने इस के अनुसार जीवात्मा का परमात्मा से ऐक्य निर्धारित किया। कुछ

लोगों को संदेह है कि 'तत्त्वमसि' द्वारा 'छांदोग्य' ने केवल जीवात्मा का वर्णन किया है, न कि परमात्मा से उस के ऐक्य का। शंकर स्वामी के अर्थ को ठीक मानते हुए हमें भी इस विषय में कुछ न कुछ संदेह बना ही रहता, किंतु 'वृहदारण्यक' में 'अयमस्मि' के वाक्य द्वारा यह ऐक्य बहुत प्रकट हो गया है, सो संदेह शेष नहीं रहता। स्वामीजी का विचार है कि जीवात्मा की सत्ता केवल व्यावहारिक है। वे कहते हैं कि प्रकृति का शुद्ध रूप बुद्धि है, और शुद्ध बुद्धि ग्राही है, सो वह परमात्मा का प्रतिबिंब ग्रहण करके जीवात्मा बनाती है। यह जीवात्मा अविद्या के कारण अपने को परमात्मा से पृथक् मानता है, और अपने विचारों के अनुसार शरीर पा कर पुनर्जन्म पाता हुआ जब सुकर्मों द्वारा अविद्या से दूर हो जाता है, तब जल में जल की भाँति परमात्मा से अभिन्न हो जाता है। प्रकृति की भी आप केवल व्यावहारिक सत्ता मान कर संसारोत्पादन के परिणामवाद को विवर्तवाद के रूप में कहते हैं। जैनों ने जो "गुणसमुदायो द्रव्यं" का विचार कहा था, उसे आप प्रकट-रूप में नहीं मानते। पीछे के इन बारह सौ वर्षों में विज्ञान की उन्नति से प्रकृति के विषय में अज्ञेयवाद के साथ उस का केवल शक्तिमय रूप अधिक मान्य हुआ है। स्वामीजी ने प्रकृति की व्यावहारिक सत्ता के कारण मायावाद चलाया था, जिस का इन के पीछेवाले लेखकों ने बहुत कथन किया है। अब मायावाद अनावश्यक हो गया है और शक्तिवाद अधिक मान्य हो कर स्वामीजी के मुख्य सिद्धांत अद्वैतवाद को पुष्ट करता है। फल यह है कि कोई चाहे स्वामी-जी के सब तर्कों से सहमत न हो, तो भी वर्तमान विचारों का झुकाव अन्य तर्कों के सहारे से उन्हीं के अद्वैतवाद पर है। स्वामीजी का सब से बड़ा पुरुषार्थ यह है कि उन्हों ने तत्कालीन हिंदू मत के भद्देपन को दूर करके 'गीता' और उपनिषदों का शुद्ध संमिलित धर्म चलाया। बहुत अधिक संख्या में हमारे संत लोग तथा इतर हिंदू आप के अद्वैतवाद को मानते हैं।

स्वामीजी के पीछे भारत ने दो-तीन सौ वर्षों तक कोई पूर्ण पंडित उत्पन्न न किया, जिस से हमारा समाज पतनोन्मुख रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में बिहार तथा बंगाल में तांत्रिक मत का बल हुआ और दक्षिण में दशवीं

शताब्दी से वैष्णव संतों का प्रभाव बढ़ा। इन संतों में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निंबार्कस्वामी और विष्णुस्वामी प्रधान हुए। स्वामी रामानुजाचार्य का समय १०१६ से ११३९ तक है। आप ने नारायण को प्रधानता दे कर मूर्ति को भी आराध्य, उपास्य और सेव्य माना। आप ने आत्मा के बद्ध, मुक्त और नित्य नामक तीन रूप माने। आप का बद्धात्मा चैतन्य या अचैतन्य है। चैतन्यता के लिए भक्ति और ज्ञान प्रधान हैं। नित्यात्मा उत्पादक, पालक और विनाशक हो कर ब्रह्मा, विष्णु और महेश है। नित्यात्मा अवतार भी ग्रहण करता है। आपने वस्तुतः शांकर अद्वैत को मान कर उस में कुछ विशेषता की, इसी से आप का मत विशिष्टाद्वैत कहलाया, जिस में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति, ये तीनों सत् या सत् के समान हैं। आप वैष्णव थे। अपने वाद द्वारा आप ने दक्षिण में जैन मत ध्वस्त किया। इन्हों ने बालकृष्ण अथवा अवतारों को प्रधानता न दी और नारायण की ही मुख्यता रक्खी।

निंबार्कस्वामी की मृत्यु का समय ११६२ कूता जाता है। आप रामानुजाचार्य के शिष्य थे। इस काल दक्षिण में शैव मत बहुत चलता था। कृष्ण-भक्ति के साथ राधा की भक्ति मिला कर आपने वैष्णव मत में वाममार्ग जोड़ा। आप ही के प्रभाव से हिंदी कविता में श्रीकृष्ण का शृंगारिक वर्णन हुआ। आप ने अपना मत मगध में फैला कर श्रीवृंदावन में निवास ग्रहण किया। स्वामी मध्वाचार्य (११९०–१२७७) भी उपरोक्त तीनों महात्माओं की भाँति दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। आप ने भी उपरोक्त दोनों महात्माओं के समान शांकर अद्वैत एवं मायावाद के प्रतिकूल मत प्रकट करके लक्ष्मी और विष्णु की भक्ति को प्रधान माना, किंतु राधा को छोड़ कर केवल कृष्ण का मान किया। दक्षिण में कृष्ण प्रायः रुक्मिणी-वल्लभ कहलाते हैं, न कि राधारमण। आप का द्वैतमत है, जिस में जीवात्मा और परमात्मा सत् अथवा सत् के समान हैं। विष्णुस्वामी भी इसी समय के थे। आप की भक्ति में दार्शनिकता की प्रधानता है। आप शिव और विष्णु दोनों को मानते थे। माध्व संप्रदाय में राम और कृष्ण-पूजन की उपशाखाएँ हैं। विष्णुस्वामी मध्वाचार्य के शिष्य थे। चैतन्य महाप्रभु और हितहरिवंश इसी संप्रदाय में हैं। विष्णु-

स्वामी राधाकृष्ण को मानते थे। शैव मत दक्षिण से चल कर बंगाल और युक्त प्रांत के मध्य भाग में प्रचलित हुआ, और वैष्णव मत भी वहीं से चल-कर बंगाल, विहार तथा अवध में फैलता हुआ मथुरा-वृंदावन पहुँचा और वहीं से समय पर मारवाड़ एवं गुजरात गया। इस काल दक्षिण में जैन धर्म का अच्छा प्रचार था, जो धीरे-धीरे कम होता गया। इसी समय के निकट बारहवीं शताब्दी के अंत में मुसल्मानों का साम्राज्य भारत में स्थापित हुआ। उन लोगों ने राज्य-प्राप्ति भर से ही संतुष्ट न हो कर भारत में बल-पूर्वक मुसल्मानी मत फैलाने का प्रयत्न साढ़े तीन सौ वर्षों तक जारी रक्खा। इधर हिंदुओं के धार्मिक विचार इतने बढ़े हुए थे कि दब कर वे कोई नवीन धर्म मानने को तैयार न थे। प्रायः एक शताब्दी भर अपने यहाँ कोई निकलता हुआ कवि या उपदेशक न हुआ। अनंतर महात्मा गोरखनाथ तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में हुए। आपने प्रसिद्ध गोरखपंथ चलाया जो तार्किक बल पर अवलंबित न हो कर शैवमत-प्रधान वाममार्ग पर चलता था। अतएव शैव पूजन तो वह युक्त प्रांत का लिए हुए था, किंतु बंगाल के शाक्त विचारों से भी प्रभावित था। शंकराचार्य शैव हो कर भी ज्ञान पर जोर देते थे, भक्ति पर नहीं; तथा रामानुजाचार्य ने तार्किकता और भक्ति पर प्रायः सम बल लगाया। इस काल शाक्त संप्रदाय के विचारों का प्रभाव वैष्णव और शैव मतों पर भी पड़ा। गोरखनाथ यौगिक क्रियाओं पर भी चलते थे। इन के पंथ में अब तक लाखों आदमी हैं, जो महाराष्ट्र देश तक में पाए जाते हैं। हिंदू धर्म इस काल मुस्लिम धर्म के साथ आत्मबल से युद्ध में प्रवृत्त था।

भक्तिवाद (१५ वीं से १९ वीं शताब्दी के मध्यपर्यंत)

यद्यपि चौदहवीं शताब्दी के अंत-पर्यंत तर्कवाद का समय माना जा सकता है, तथापि ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य से स्वामी रामानुजाचार्य आदि ने उस के साथ भक्तिवाद मिला दिया था। मुसल्मानों ने बल-प्रयोग द्वारा अपना मत भारत में फैलाना चाहा, जिस के कारण हिंदुओं को सामाजिक संगठन की विशेष आवश्यकता हुई। यह बात इन्हों ने मुसल्मानों के साथ

सामाजिक वहिष्कार तथा आपस में भक्तिवाद के प्राचुर्य से संपादित की। मुसल्मानों से पहले, नवागंतुकों को समाज के अंग बनाने के हिंदू ऐसे उत्सुक थे, कि उन के साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करने तथा उन की मानसिक उन्नति के अनुसार अपने धर्म तक में मोटियापन बढ़ाने से भी ये न हिचके, क्योंकि उस काल हम को उन्हें अपने धर्म में मिलाना था। जब मुसल्मान हम को अपना धर्म सिखलाने लगे, सो भी तर्क द्वारा नहीं, वरन् खड्ग के बल से, तब हम ने उन्हें मिलाने के स्थान पर वहिष्कार द्वारा अलग रखने की विधि निकाली और उसे सामाजिक धर्म का अंग बना दिया। पौराणिक मत स्वामी शंकराचार्य के पूर्व से ही भलीभाँति स्थापित हो चुका था। स्वामीजी ने उस से स्थूलता हटा कर शुद्ध 'गीता' तथा उपनिषद्वाद का आरोप जो करना चाहा, उस के लिए या तो समय न मिला या उन के पीछेवाले आचार्यों ने वैसा बुद्धि-वैभव न दिखलाया। इतने ही में मुसल्मानी धार्मिक उत्पात होने लगे और हिंदुओं को धार्मिक सूक्ष्मता लाने के स्थान पर समाज-संरक्षण का काम गुरुतर देख पड़ा। अतएव दशवीं शताब्दी के वैष्णव संघ ने शांकर तर्कवाद तो स्थापित रक्खा, किंतु समाज-संगठन के अभिप्राय से उस में भक्तिवाद प्राचुर्य से जोड़ दिया। इस से यह न समझना चाहिए कि स्वामी रामानुजाचार्य आदि ने जान बूझ कर धार्मिक मोटियापन का समर्थन किया अथवा पौराणिक काल में ही हमारे ऋषियों ने जान बूझ कर धर्म को विगाड़ा। बात यह है कि धर्म की महत्ता सांसारिक स्वीकृति पर है। जिस धर्म को जितने अधिक लोग मानें, वह उतना ही बड़ा है। इस कारण से ऋषियों और धर्म-प्रचारकों को लोक-संग्रह को देखते हुए शिक्षा देनी पड़ती है। जिन बातों को लोग नहीं मानते, उन्हें शिक्षा से कम करना होता है, यहाँ तक कि धीरे-धीरे वे छूट जाती हैं और फल यह होता है कि उपदेश लोक-स्वीकृति के अनुसर चलते हैं। कुछ बातों में लोक उपदेशकों को मानता है और कुछ में उपदेशक लोक-मत को। सुतराम् संसार में जैसी दशा उपस्थित होती है, और लोगों की जितनी मानसिक शक्ति होती है, वैसे ही उपदेश लोकमान्य होते हैं। इन कारणों से बादरायण व्यास के पीछे शांकर काल-पर्यंत समाज संगठन

की प्रधानता, सीदियनों, तुर्कों, शकों, गुर्जरों, आभीरों, हूणों आदि को उस में लेने की आवश्यकता तथा उन लोगों की मानसिक उन्नति के अनुसार हमारा धर्म समय के साथ बदलता हुआ चला, यहाँ तक कि अंत में स्वामी शंकराचार्य ने उस में बहुत स्थूल तर्कहीन विचार तथा आचार पाए। अतएव तर्कवाद चला कर उन्हों ने उसे शुद्धतर करना चाहा। उन का प्रभाव पड़ा बहुत और आज तक उन का नाम बड़े मान से लिया जाता है, किंतु मुसल्मानों के आगमन से समाज-संरक्षण के दूसरे प्रश्न उठ पड़े, जिस से यह तार्किक धारा स्थगित हो कर अंत में त्यक्त हो गई, और पहले तर्क-मिश्रित और फिर कोरा भक्तिवाद देश में चला। इस ने समाज-संगठन तो बहुत अच्छा किया, किंतु धार्मिक तत्व की उन्नति स्थगित रही। यदि हमारे धर्म पर मुसल्मानी प्रचंड खड्ग का प्रकोप न होता, तो संभवतः शांकर तर्कवाद इतना फल-शून्य न निकलता। अब हम अपनी धार्मिक प्रगति की धारा को उठाते हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वामी रामानुजाचार्य की शिष्य-परंपरा के महर्षि स्वामी रामानंद ने उपदेश देना आरंभ किया। उत्तरी भारत पर इन का अद्वितीय प्रभाव पड़ा है। ये स्वयं भारी उपदेशक थे और इन की शिष्य-परंपरा में कबीरदास और गोस्वामी तुलसीदास—विशेषतया गोस्वामीजी—ऐसे भारी उपदेशक हुए, कि आज का हिंदू धर्म वास्तव में तुलसीधर्म है। हमारे हिंदू मत में यमाचार्य, बादरायण व्यास, शंकराचार्य, रामानंद और तुलसीदास सब इतरों से बढ़े-चढ़े उपदेशक थे। रामानुजाचार्य शूद्रों को संप्रदाय में नहीं लेते थे। इधर रामानंद ने संतों में शूद्रों तथा मुसल्मान तक को लिया किंतु लोकसंग्रह के ध्यान से गृहस्थों के जातिवाद को अक्षुण्ण रक्खा। यद्यपि आजकल के लिए जातिभेद बहुत बुरा है, तथापि उस काल समाज-संगठन के लिए वह परमावश्यक था। यदि स्वामी रामानंद जाति की निंदा करते, तो आज भारत में हिंदूधर्म का पता न लगता। आप ने समाज-संगठन के विचार से उपदेश हिंदी में दिए। फल यह हुआ कि युक्त प्रांत और बिहार मुस्लिम-साम्राज्य के केंद्र हो कर भी छियासी प्रति-शत जनता हिंदू रख सके, किंतु सिक्खों द्वारा जाति की निंदा से पंजाब तथा

संस्कृत प्रभाव-पूर्ण बंगाली भाषा एवं शूद्रों के सामाजिक अपमान से बंगाल हिंदुओं के बृहदंश को खो बैठे, यद्यपि वे दूरस्थ प्रांत थे। युक्त प्रांत के धार्मिक प्रभाव से मध्यभारत मुसल्मानी संख्या-वृद्धि से बच सका। स्वामी रामानंद ने हनूमान आदि की भी भक्ति सिखलाई तथा सीताराम की ऊँची भक्ति का मान किया। आप ने भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न वाले व्यूह-पूजन को भी अपनाया। इन के शिष्यों में पीपा (गागरौन गढ़ के राजा और पीछे से गृहत्यागी संत), भवानंद, सेन नाई, कबीरदास जोलाहे आदि भारी भारी महात्मा थे। नामदेव दर्जी दक्षिण में पंढरपुर के महात्मा थे। आप ने राम रहीम की एकता सिखाई, किंतु मुसल्मानों के धार्मिक असहिष्णुतापूर्ण व्यवहार के कारण इस शिक्षा ने कुछ काम न दिया। कबीरदास का समय १३९८ से १५१८ तक है। आप ने अपने उपदेशों में भक्ति को तो स्थान दिया, किंतु निर्गुणवाद पर भारी बल रक्खा। आप सच्चे अद्वैतवादी और उपनिषदों के भक्त थे, तथा हिंदू-मुसल्मानी ऐक्य को सिखलाते थे। आप की शिक्षाओं में मुख्यता तो निर्गुणवाद की थी, किंतु सूफ़ी सिद्धांतों का भी आप कुछ मान करते थे। कबीरपंथ गोरखपंथ से कुछ-कुछ मिलता है। इस में हिंदू मुसल्मान दोनों हैं। इस में योग-संबंधी शारीरिक क्रियाओं तथा चरित्र-बल की विशेषता है। इन पंथों में सामाजिकता और व्यक्तित्व दोनों की महत्ता है। इन के हिंदू समाज की निम्नश्रेणी में सबल होने से मुसल्मानी मत की खड्गबल से बढ़ती हुई धारा बहुत कुछ रुकी। बाबा नानक (१४६९-१५३९) पंजाब के महात्मा सिक्ख धर्म के प्रवर्तक थे। आप के उपदेश ज्ञान, ईश्वर-भक्ति, योग, एकेश्वरवाद, निराकारोपासना, मूर्तिपूजन-निषेध, जाति-विरोध, मनुष्यमात्र की समता, सुरत शब्द, योगाभ्यास, गुरुभक्ति तथा समाजोन्नति के थे। सिक्खों में दश गुरु, १७०८ तक हुए, जिन सब ने इन्हीं विचारों पर उपदेश दिए। अंतिम गुरु गोविंदसिंह ने ख़ालसा नामक सिक्खों का धर्म चलाया। ये गुरु लोग पहले तो संत रहे, किंतु पीछे समय की गति से इन्हें युद्ध-प्रिय भी होना पड़ा। सिक्ख-मत इन्हीं महात्माओं के प्रयत्नों का फल है।

चैतन्य महाप्रभु का प्रादुर्भाव नदिया में १४८५ में हुआ और ४८ वर्ष की अवस्था में आप ने जगन्नाथपुरी में शरीर छोड़ा। आप की भक्ति बहुत ही प्रगाढ़ थी। आप श्रीकृष्ण के अवतार माने जाते हैं, और जगदीश मंदिर के एक खंड में आप की भी मूर्ति पूजी जाती है। कई अन्य स्थानों पर भी चैतन्य-मूर्ति के मंदिर हैं। आप कभी-कभी ऐसे प्रेमोन्मत्त हो जाते थे कि तन-बदन की सुधि न रखते थे। ऐसी ही दशा में समुद्र में घुस कर आप ने शरीर भी छोड़ा। मूर्छित तो प्रायः हो जाया करते थे और भक्ति के प्रेम में उन्मत्त हो कर नृत्य भी किया करते थे। आप ने एक बार कहा था कि मनुष्य को अवतार मानना पाप है। फिर भी अपने को कभी राधा और कभी कृष्ण कहने लगते थे। बंगाल के शाक्त सिद्धांतों से प्रभावित हो कर आप की भक्ति वाममार्ग की ओर चली गई, यद्यपि स्वयं आप का चरित्र शुद्ध था। आप का संप्रदाय गौड़ीय कहलाता है। आप की भक्ति का प्रभाव बंगाल, बिहार और वृंदावन में बहुत पड़ा। वल्लभाचार्य के आप सहपाठी थे। आप के शिष्य रूप-सनातन वृंदावन में आ बसे, जहाँ उन के कारण अन्य वैष्णव संप्रदायों पर भी गौड़ीय संप्रदाय का प्रभाव पड़ा, जिस से वैष्णवता में वाममार्ग बढ़ा। महाप्रभु वल्लभाचार्य का समय १४७८ से १५३० तक है। आप ने शुद्धाद्वैतवाद और राधावल्लभीय संप्रदाय का स्थापन किया। इस काल कार्ष्ण वैष्णव संप्रदाय कई स्थापित हुए या थे, जिन सब में गौड़ीय तथा राधावल्लभीय की प्रधानता है। आप भी श्रीकृष्ण के अवतार कहे जाते हैं। ८४ तथा २५२ वैष्णवों की वार्ताओं में इन लोगों के विचार मिलते हैं। इन में प्राकृतिक नियमों से प्रतिकूलता प्रायः पाई जाती है। हिंदी कविता पर रामानंदी तथा वल्लभीय उपदेशकों का अधिकता से प्रभाव पड़ा। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने अपने भक्ति-संबंधी विचार निंबार्कस्वामी पर अवलंबित किए, तथा दार्शनिक विष्णु-स्वामी पर। इन के प्रभाव से मारवाड़ और गुजरात में वैष्णवता की वृद्धि हुई। युक्त प्रांत में राधावल्लभी तथा रामानंदी नामक दो वैष्णव संप्रदाय चले, एक राधाकृष्ण और एक सीताराम-संबंधी। एक से वाममार्ग बढ़ा और दूसरे से दक्षिण। शुद्ध दार्शनिक धर्म संसार में कम व्यापक हुआ, किंतु

रागात्मक एवं विश्वासात्मक भक्तिवाद शैव तथा वैष्णव दोनों संप्रदायों के रूपों में चला। सूफ़ी साहित्य के प्राप्त ग्रंथ १५०१ से १७४४ तक मिलते हैं। इस का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। इन मुसल्मान कवियों ने अवधी हिंदी में दोहा-चौपाइयों के ग्रंथों में हिंदू कथाओं के सहारे हिंदू विचारों से पूर्ण सहृदयता रखते हुए सूफ़ी मत चलाना चाहा, किंतु हिंदू लोग न खड्गबल से मुसल्मानी मत मानने को तैयार थे, न प्रेमपूर्ण कथाओं द्वारा। उधर हिंदी में होने तथा हिंदुओं से भारी सहृदयता रखने के कारण यह उपकारी साहित्य मुसल्मानों में भी समादृत न हो कर चल न सका। इस में मलिक मोहम्मद जायसी का सब से अधिक नाम है। आप सोलहवीं शताब्दी के अंत में हुए हैं।

वल्लभीय कवियों तथा महात्माओं में सूरदास (१४८७-१५६०), अष्ट-छाप के अन्य कविगण (वही समय), रसखान आदि अच्छे कवि तथा उपदेशक हुए। विट्ठलनाथ तथा गोकुलनाथ भी पूज्य उपदेशक थे। इन लोगों की भक्ति सखा, सखी तथा वात्सल्य भावों की थी। स्वामी हरिदास (१४७३-१५६२) ने टट्टी संप्रदाय चलाया। इस में विट्ठल-विपुल, विहारिनिदास, दो नागरीदास, सरसदास, ललितकिशोरी, आदि अच्छे महात्मा थे। आप गाना भी अच्छा जानते थे। मीराबाई भी इस काल की भारी भक्तिन और कवयित्री थीं। महात्मा दादूदयाल (१५४४-१६०३) धुन्ना के संप्रदाय में सुंदरदास, रज्जब जी, जनगोपाल, जगन्नाथ आदि प्रधान थे। इस पंथवाले निर्गुणोपासना की रीति पर निरंजन एवं निराकार की भक्ति तथा सत्तराम कह कर आपस में अभिवादन करते हैं। ये लोग तिलक, माला, कंठी आदि का व्यवहार नहीं करते। दादूदयाल ने भी हिंदू-मुसल्मानों का मेल कराना चाहा। महात्मा नाभादास डोम ने प्रसिद्ध 'भक्तमाल' रच कर संतों का गुणगान किया, जिस में असंभवनीयता प्राचुर्य से है।

गोस्वामी तुलसीदास (१५३२-१६२३) ने 'रामचरितमानस' (रामायण) रच कर हिंदूधर्म को उस का वर्तमान रूप दिया। जितना मान इन की रचना तथा धार्मिक उपदेशों का है, उतना वास्तव में और किसी का नहीं है, यद्यपि

कहने को 'वेद', 'गीता' तथा शंकराचार्य का अधिक मान है। परमेश्वर के विषय में गोस्वामी जी का निम्न मत है—

एक अनीह अरूप अनामा।
अज सच्चिदानंद पर धामा॥
व्यापक विश्व रूप भगवाना।
तेइ धरि देह चरित कृत नाना॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा।
मति अनुमान निगम अस गावा॥
बिनु पग चलइ, सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी।
बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तनु बिनु परस, नयन बिनु देखा।
गहइ घ्रान बिनु बास असेखा॥
जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।
मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥
संभु, विरंचि विष्णु भगवाना।
उपजहिं जासु अंश ते नाना॥

आप उपनिषदों का निर्गुणवाद ले कर, एकेश्वरवाद के रूप में परमात्मा का भाव अवतार में आरोपित करते हैं, तथा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि की महत्ता हटा कर शुद्ध एकेश्वरवाद पर आते हैं। सगुणवाद को तर्क के योग्य न कह कर विश्वासात्मिका भक्ति का आप उपदेश देते हैं। सामाजिक संगठन आप का वही है जो आज चल रहा है। अपने समय के लिए समाज उद्धारार्थ आप के उपदेश योग्य थे ही, किंतु आजकल के लिए क्या ठीक है, सो शंकर

तथा गीतावाद से प्राप्त हो सकता है, क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने जिस काल उपदेश दिया, उस समय हमारे समाज पर कोई दबाव न था, सो उन के उपदेश शुद्ध धर्म पर चले हैं। बादरायण व्यास के भी उपदेश शुद्ध हैं। उपनिषदों का ज्ञान परम शुद्ध और उच्च था, किंतु स्वयं यमाचार्य कहते हैं कि उन के उपदेश वही सुने, जो राज्य, स्त्री, धन आदि से आकृष्ट न हो सके। ऐसे मनुष्य तो संसार में मिलते कम हैं, सो 'कठोपनिषत्' का उच्चतम उपदेश चल न सका। जब गौतम बुद्ध तक ने उसे न माना, तब बादरायण व्यास ने 'गीता' द्वारा निर्गुण का मान करते हुए कर्तव्ययुक्त सुगुणोपदेश दिया। यह उपदेश भी केवल धार्मिक विचारों से दिया गया था। इन्हीं दोनों उपदेशों से हम हिंदू धर्म का तत्व जान सकते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के पीछे हम महात्मा एकनाथ, तुकाराम और रामदास को शिवाजी के समय महाराष्ट्र देश में भक्ति का उपदेश देते पाते हैं।

विवेकवाद (१९ वीं शताब्दी के मध्य से अब तक)

वर्तमान समय में स्वामी दयानंद सब से बड़े उपदेशक हुए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य भारत में दृढ़ रूप से स्थापित हुआ और पाश्चात्य विवेकवाद के साथ ही साथ सांसारिकपने की वृद्धि के विचार हमारे यहाँ फैलने लगे। अब मुसल्मानी बल-प्रयोग द्वारा धार्मिक ह्रास का समय जाता रहा, अथच साम्यवाद का युग आया। जिन लोगों का मान अपने मतों में उचित से कम था या जो ऐसा समझते थे, वे सुख-पूर्वक ईसाई होने लगे। अंगरेजी पढ़ कर कुछ उच्चश्रेणी के बंगालियों ने बंगाल के तंत्रवादपूरित विश्वासात्मक भक्तिवाद में कोई महत्ता न पाई, और हिंदू धर्म के निगूढ़ रहस्यों के उपदेशकों के अभाव से पाश्चात्य बुद्धिवाद से चलितधैर्य हो कर ईसाई धर्म ग्रहण किया। पंजाब में हिंदू मत बहुत काल से निर्बल था, सो वहाँ भी ईसाईपन की वृद्धि हुई। यह देख कर बंगाल में राजा राममोहनराय तथा केशवचंद्र सेन ने अद्वैतवाद-गर्भित ब्राह्मो मत चलाया, जिस से बंगाल ने हिंदू

मत की महत्ता जानी, और भद्र लोगों में ईसाई बनने की अभिरुचि रुक गई। उधर गुजरात में स्वामी दयानंद का प्रादुर्भाव हुआ। आप का समय १८२४ से १८८३ तक था। ये महात्मा जी आजकल के महर्षि हो गए हैं। इन की गणना शंकराचार्य, रामानंद, बाबा नानक, तुलसीदास आदि के साथ हो सकती है। आप ने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'सत्यार्थ-प्रकाश' आदि सोलह ग्रंथ विशुद्ध हिंदी में लिख कर हिंदू धर्म का एक नवीन संस्करण उपस्थित किया, और १८७५ में 'आर्यसमाज' स्थापित करके जातीयता का मान बढ़ाया। प्रतिमा, तीर्थादि का खंडन करके आप ने विशुद्ध वैदिक मत चलाया, और भारतवर्ष भर में घूम-घूम कर हिंदू मत को शुद्ध बनाने में भगीरथ प्रयत्न किया। इन स्वामीजी के प्रयत्नों से पंजाब में हिंदुओं के ईसाईपन की धारा रुकी, तथा वाममार्गपूर्ण-पूजन, मुस्लिम पीरों, क़ब्रों आदि का मान हिंदू समाज से दूर हुए। समय के साथ जो धार्मिक आचार-विचार हिंदू समाज के लिए हानिकर हो गए हैं, उन सब का निराकरण करके आप ने वैदिक धर्म का जातीयता से अच्छा मिश्रण किया। जाति-पाँति को दूर हटा कर आप ने गुण-कर्मानुसार ही ब्राह्मणत्व आदि को माना। ईसाईपन की बढ़ती हुई धारा को हिंदू समाज से दूर करने का ब्राह्मो और आर्यसमाज का हमारे ऊपर भारी ऋण है। जिन-जिन विश्वासों के कारण भारत में आलस्य है या अनुचित व्यय की वृद्धि होती है, उन सब का स्वामीजी ने निराकरण किया। आप के धर्म में केवल वेदों का मान विश्वास से संबद्ध है। शेष विचार सब तर्कवाद पर अवलंबित हैं। समाजियों के प्रयत्न से हमारे समाज में वेदों, उपनिषदों आदि के पठन-पाठन की प्रणाली फिर से जागृत हुई। देश में जातीयता का मान भी इन के द्वारा अच्छा हुआ। समय के साथ देश के अन्य जत्थों में भी जातीयता का मान बढ़ा है जिस से आर्यसमाजियों के यह कार्य औरों के प्रयत्नों में मिल गए हैं। आर्यसमाज अभी तक विश्वास मात्र है। कुछ काल तक तो यह जोरों से चला, किंतु अब कुछ दिनों से शिथिलता पकड़ रहा है। कारण यह है कि समाजी लोग मांस-भक्षियों की निंदा करके व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा डालते हैं, और स्वामीजी के सब विचारों का

इतना अधिक मान इन में है कि अन्य लेखकों की विचार-धारा में स्वच्छंदता का अवरोध है, तथा अनुयायीपन का बोझ पड़ता है। इस प्रकार जैसे बौद्ध धर्म व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा डाल कर त्यक्त हो गया था, वही दशा आर्य-समाज की देख पड़ती है। इधर हिंदू मत में स्वच्छंदता पूरी है। हमारे सामाजिक तथा धार्मिक प्रश्न आप से आप हल हो रहे हैं, सो हिंदू मत का भविष्य बहुत समुज्वल देख पड़ता है। आजकल प्राचीन ग्रंथों के पठन-पाठन, इतर धर्मों से अपनी निर्बलताओं की मानसिक तुलना तथा सांसारिक उन्नति की कसौटी पर धार्मिक एवं सामाजिक विचारों के कसने की ऐसी चाल चल रही है कि अर्द्ध शताब्दी के भीतर ही हमारा धर्म शुद्ध और उन्नतिकारी हो जावेगा, ऐसी आशा है। स्वामीजी के पीछे महात्मा रामतीर्थ ने भी धर्म का रूप सामने लाने का अच्छा प्रयत्न किया। आजकल हिंदी की उन्नति से भी धार्मिक तत्व का ज्ञान बढ़ रहा है, और सामाजिक उन्नति अच्छी होने से अपनी सभी हानिकारिणी चालें छूटती हुई देख पड़ रही हैं। महात्मा गांधी प्रचुर प्रयत्न करके हरिजनों का मान बढ़ा रहे हैं, जिस से यह खोया हुआ सा समुदाय हिंदू धर्म का जागता हुआ अंग बन कर हमारी उन्नति में सहायक होगा, ऐसी दृढ़ आशा है। गांधीजी के आचारों एवं विचारों से देश में चरित्रबल भी अच्छा बढ़ रहा है। निदान अब देश एवं धर्म का भविष्य समुज्वल देख पड़ता है।

मुद्रक—महेन्द्रनाथ पाण्डेय, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—रावराजा पंडित श्यामबिहारी मिश्र, लखनऊ

भारतवर्ष के नौ धार्मिक युग

(१) अनार्य-धर्म [३२५० बी० सी० (ईसा-पूर्व) से २७५० बी० सी० तक कोई समय]। मोहंजोदड़ो और हड़प्पा में १६२२ से १६२७ तक जो खोदाई हुई थी, उसके आधार पर विद्वानों ने तत्कालीन सभ्यता के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। यहाँ केवल धार्मिक दृष्टि से कथन किया जाता है। पुरातत्त्व-विभाग के डिरेक्टर जनरल सर जॉन मार्शल उसका समय उपर्युक्तानुसार बतलाते हैं। लखनऊ-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर श्रीयुत डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी की राय में वह समय प्रायः ४००० बी० सी० है। वहाँ की प्रचुर सामग्री और लेख मिले हैं। लेख अभी पढ़े नहीं जा सके हैं। सामग्री की सहायता से जो धार्मिक निष्कर्ष निकाले गए हैं, वे यहाँ दिए जाते हैं।

उन लोगों ने पत्थर और जस्ते में मानुषीय मूर्तियाँ बनाईं। वे आदिम मातृदेवी, शक्ति और शिव का पूजन करते थे। जानवर देवताओं के वाहन थे, तथा तरु-पूजन भी चलता था। उनमें ध्यान-मग्न शैव-मूर्तियाँ मिली हैं, तथा नासिका पर दृष्टि लगाए हुए ध्यान धारे योगियों की मूर्तियाँ हैं। यहाँ पृथ्वी या सिंहवाहिनी मातृदेवी बहुत पाई जाती है। त्रिनेत्र शिव के तीन सर हैं। शायद इसी प्राचीन भाव से हिंदू-त्रिमूर्ति का विचार निकला हो। त्रिशूल मिलता है। योग का भी विचार है। शिव के निकट हाथी, चीता, भैंसा और गैंडा हैं। नाग उनकी पूजा करते हैं। शिव दो मृग-चर्मों पर बैठे हैं। उस काल भी शिव पशुपति समझ पड़ते हैं। लिंग और योनि के पूजन थे। सिंध और बलूचिस्तान में वर्तमान अर्घों के समान लिंग-युक्त अर्घे मिले हैं। जानवरों का भी पूजन था। सींग देवत्व का चिह्न था। शिव, मातृदेवी,

कृष्ण, नाग, जानवर, वृक्ष, पत्थर, लिंग, योग, शक्ति, संसार, भक्ति आदि के जो भाव हिंदुओं में पीछे से चले, उनके मूल उपर्युक्त सभ्यता में पाए जाते हैं। स्नान पर बड़ा ज़ोर था। शायद यह धार्मिक हो। पूजनालय नहीं मिले हैं, किंतु कुछ कमरे ऐसे मिले हैं, जिनका प्रयोजन अप्रकट है। शायद वे पूजनालय हों। अन्य साक्षी से अनार्यों में गिरि-पूजन भी कहा गया है।

(२) वैदिक धर्म (समय १८०० से ६५० बी० सी० तक)। वैदिक समय-निरूपण न केवल मतभेद, वरन् हठवाद से भी ख़ाली नहीं है। फिर भी अंदाज़ से यहाँ लिखा गया है। अंतिम पाँच वेदर्षि युधिष्ठिरी समय के हैं, तथा जनमेजय के समय में वेदव्यास ने वेद-विभाजन किया। अंतिम वैदिक समय युधिष्ठिरी काल-निर्णय पर ही निर्भर है, किंतु इसमें मतभेद है। यह समय पंद्रहवीं शताब्दी बी० सी० से दशवीं तक कभी माना गया है। आजकल पंडितों का झुकाव अंतिम सीमा पर ही है। वेदों के विषय का कुछ विवरण ग्रंथ में पृष्ठ १२ तथा २६-३३ पर हो चुका है। ऋग्वेद मुख्य है। उसकी कुछ ऋचाओं को लेकर तथा उन पर गद्य में टिप्पणियाँ बढ़ाकर एवं कुछ नवीन ऋचाएँ जोड़कर यजुर्वेद बनाया गया, तथा गाने योग्य ऋचाओं से सामवेद बना। अथर्ववेद प्रायः ऋग्वेद के साथ ही चल-कर उसके कुछ पीछे तक बनता रहा। ऋग्वेद में ३३ देवताओं की मुख्यता थी। विश्वामित्र ने तृतीय मंडल में एकेश्वरवाद चलाया, तथा युधिष्ठिर के समकालीन नारायण ऋषि ने पुरुषसूक्त में एकेश्वर के साथ जाति-भेद का कथन किया। यजुर्वेद और अथर्ववेद में शैव ईश्वरत्व स्थापित हुआ। इससे प्रकट है कि प्राचीन अनार्यों के शिव-समान किसी देवता ने अपने रुद्र शिव से एकीकरण करके उन्नति की। ऋग्वेद में ईश्वर तो प्रधान हैं, किंतु सभी स्थानों पर इंद्र की महत्ता है। विष्णु उपेंद्र (इंद्र से कम) होकर भी परमपद-युक्त हैं। इंद्र को छोड़कर ऋग्वेद में इनके सामने कोई देवता नहीं है। यजुर्वेद और अथर्व में शिव न केवल मुख्य देवता, वरन् ईश्वर हैं। भक्ति का प्रकाश ऋग्वेद और सामवेद में है, तथा यज्ञों का यजुर्वेद में। वास्तव में ऋग्वेद का ही समय वैदिक है, तथा यजुष् और अथर्व का ब्राह्मण-

काल में गिना जाता है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में कुछ प्राचीनतम ऋचाएँ अवश्य हैं, किंतु उन्हें छोड़कर पहले नौ मंडल प्राचीन हैं, और शेष दसवाँ कुछ नया है तथा उसमें आध्यात्मिक विचार बढ़े हुए भी हैं।

(३) ब्राह्मण और उपनिषत्काल (अंदाज़ से ६५० से छठवीं शताब्दी बी० सी० तक)। यजुर्वेद और अथर्ववेद के उपर्युक्त विचार इसी समय के समझने चाहिए, विशेषतया इसके प्रारंभ के। ब्राह्मण-साहित्य (प्रायः ७० ग्रंथों) में याज्ञिक विधान की वृद्धि होकर कुछ ऐतिहासिक कथन भी हुए। आरण्यकों और उपनिषदों में ज्ञान-कथन का आधिक्य रहा। इनमें मुख्यता निर्गुणवाद की रही, जिसका विवरण ऊपर बारहवें-तेरहवें पृष्ठों पर आ चुका है। प्राकृतिक शक्ति से परिणामवाद-युक्त जगदुत्पत्ति का कथन प्रश्नोपनिषत् (प्रश्न १, मन्त्र ५वें) में बहुत अच्छा है। वह यों है—प्रजा की उत्पत्ति के विचार से प्रजापति ने प्रकृति में क्रिया (संचालन) दी, जिससे रयि (भोग्य) और प्राण (भोक्ता) का जोड़ा उत्पन्न हुआ। इसी को मूर्त्त अथच अमूर्त्त कहा गया है। ऐतरेय और शतपथ मुख्य ब्राह्मण हैं। प्राचीनतम उपनिषत् गद्य के हैं। पुराने उपनिषदों में ऐतरेय, कौशीतकि, केन (कुछ भाग), छांदोग्य, तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, प्रश्न और मुण्डक की गणना है। ईश और मांडूक्य प्राचीन उपनिषदों के पीछे के हैं। केन के १-१३ तथा बृहदारण्यक के भाग (चार ८-२१) पीछे जुड़े। ये कथन सर राधाकृष्णन के अनुसार हैं।

(४) शंकाएँ और बौद्ध-जैन-मत (छठी से तीसरी शताब्दी बी० सी० तक)। निर्गुण ब्रह्म में शंकाओं के कथन ऊपर २३-२४ पृष्ठों पर हैं। इनमें चार्वाक्, कपिल, जैमिनि और गौतमबुद्ध की मुख्यता है। बौद्ध और जैनवादों के विवरण ऊपर पृष्ठ २४, २५, ३५, ३६, ३७ और ३८ में आ चुके हैं। पहली करारी शंका चार्वागादि के लोकायत मत ने ही उठाई। इस सिद्धांत के विवरण प्राचीन ग्रंथों में कुछ बिगाड़ कर दिए हुए हैं।

(५) सगुणवाद (पाँचवीं शताब्दी बी० सी०)। बौद्ध, जैन एवं शंका-वाद से ईश्वरत्व के साथ शैव माहात्म्य भी बहुत कुछ गिर गया। तब गीता

द्वारा हिंदुओं ने सगुणवाद चलाया। इसका विवरण पृष्ठ २५, २६, २७, ४३, ४४ और ४५ पर हो चुका है। सगुणवाद के साथ वैष्णव ईश्वरत्व चला। विष्णु के वर्णन में पृष्ठ ४१ पर पाणिनि का समय छठी शताब्दी बी० सी० लिखा गया है, किंतु पीछे से प्राप्त मंजुश्री मूलकल्प-नामक प्रामाणिक बौद्ध-ग्रंथ से प्रकट हुआ है कि वे महापद्म नन्द के समय में चौथी शताब्दी बी० सी० के आदि में थे। कुछ विद्वान् इसे अनिश्चित मानकर अब भी छठी शताब्दी ठीक समझते हैं।

विष्णु का विवरण पृष्ठ ३६ से ४७ तक आ चुका है। पूजन-विधान में हमारे यहाँ एक दूसरे के पीछे निम्न की मुख्यता रही—शिव, विष्णु, नारायण, वासुदेव, भगवान्कृष्ण, वलरामकृष्ण, बालकृष्ण, राम, राधाकृष्ण, सीताराम।

पाँचवीं शताब्दी बी० सी० में भारत के सामने गौतमबुद्ध का बौद्ध-धर्म तथा बादरायण व्यास का गीता-धर्म सामने थे। प्रश्न यह था कि हिंदू किसे अपनावें ? भांडारकर, तिलांग और तिलक महाशय गीता को पुरानी मानते हैं, किंतु अँगरेज़ लेखक उसे पहली-दूसरी शताब्दी की समझते हैं। बादरायण उत्तर-मीमांसाकार निश्चित हैं। यह काल पाश्चात्य लेखक प्रायः तीसरी-चौथी शताब्दी मानते हैं। तिलक महाशय गीता भी बादरायण-कृत कहते हैं, और यह समय पाँचवीं शताब्दी बी० सी० का मानते हैं। गीता का यही समय तिलांग कहते हैं। इसे सर भांडारकर बी० सी० तीसरी शताब्दी से पूर्व का मानते हैं, और गर्वे दूसरी शताब्दी बी० सी० का। डगलस हिल भी यही समय कहते हैं। ४०० बी० सी० के बोधायन गीता से अवतरण देते हैं। इन कारणों से प्रो० राधाकृष्णन महाशय भी गीता का समय पाँचवीं शताब्दी बी० सी० बतलाते हैं। बोधायन का अवतरण तथा व्यूह-पूजन का अभाव गीता की प्राचीनता के द्योतक हैं। व्यूह-पूजन बौद्ध-ग्रंथ निद्देश में हैं, जो चौथी शताब्दी बी० सी० का कहा जाता है। अपने यहाँ के वैदिक तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों के समय अनिश्चित अथच अंदाज़ी हैं। षड्दर्शन के मूल सिद्धांत तो कुछ बुद्ध-पूर्व से और कुछ बुद्ध-काल से चले आते थे, किंतु ये दर्शन अंत में बने ईसवी दूसरी शताब्दी से छठी तक। इसीलिये बादरायण

के गीताकार तथा पाँचवीं शताब्दी-ईसा पूर्व में होने में संदेह भी किया जाता है। थे वे अवश्य बहुत प्राचीन समय के, और कई विद्वान् उन्हें पाँचवीं शताब्दी बी० सी० का ही मानते हैं।

(६) प्रतिमा तथा साधारण धर्म (चौथी शताब्दी बी० सी० से आठवीं शताब्दी ईसवी तक)।

इस काल के भारतीय धर्म का विवरण पृष्ठ ५७ से ६२ तक आया है। यद्यपि पाप-स्वीकृति का बल पाश्चात्य विचारों पर अवलंबित है, तथापि बौद्ध पातिमोख में भी उसका मूल था। वहाँ संघों में भिक्षुगण अपने दोषों के कथन संघ के सामने करके पापविमोचन प्राप्त करते थे। सिकंदर के साथ चौथी शताब्दी बी० सी० में आए हुए तथा अन्य ग्रीक लेखकों के आधार पर बहुत-सी भारतीय बातों के पते लगे हैं। उनमें यह भी कथन आया है कि हिंदू लोग गंगा-स्नान में पुण्य मानते थे। कौटिल्य-कृत अर्थ-शास्त्र को पाश्चात्य विद्वान् तीसरी से पहली शताब्दी बी० सी० का ग्रंथ मानते हैं। कौटिल्य सम्राट् चंद्रगुप्त, बिंदुसार तथा अशोक के मंत्री चाणक्य का नाम था। उनके अर्थशास्त्र में बड़े छोटे देवता हैं, किंतु पहाड़ों, नदियों, वृक्षों, आग, चिड़ियों, नागों, गायों आदि के पूजन मरी आदि से बचने को किए जाते थे, और इसी अभिप्राय से रीतियों, मंत्रों और जादू के कार्य कराए जाते थे। अर्थशास्त्र में आवागमन, कर्म और मुक्ति के कथन नहीं हैं। यह धर्म अशोकवाले के समान है। इससे स्वर्ग और आनंत्य की प्राप्ति होती है।

वाल्मीकीय रामायण के प्राचीन भागों का समय पाश्चात्य पंडित छठी से तीसरी शताब्दी बी० सी० तक मानते हैं। इन प्राचीन भागों में अवतार-कथन नहीं है, तथा वैदिक देवता, काम, कुबेर, शुक्र, कार्त्तिकेय, गंगा, लक्ष्मी, उमा आदि देवी-देवता हैं। शेष, हनुमान्, जांबवान्, गरुड़, जटायु आदि अर्द्ध देवता हैं। विष्णु और शिव की महत्ता है। नाग, वृक्ष, नदी, तड़ाग आदि पूजित हैं। देवताओं के मंदिर और प्रतिमाएँ हैं, किंतु शिवलिंग नहीं। पशुबलि है। आवागमन-सिद्धांत का कथन है, किंतु पूरी उन्नति नहीं। तीसरी

शताब्दी बी० सी० की महानारायणीय उपनिषन् में विष्णु वासुदेव कहे गए हैं। प्रतिमा का पहला कथन कल्पसूत्र में है, किंतु पूजन के विषय में आदेश नहीं है। वह पसंद कम है।

अशोक (तीसरी शताब्दी बी० सी०) के मत में जैन और बौद्ध-मतों का मिश्रण है। उसमें सहिष्णुता विशेष है, और माता, पिता, गुरु आदि की आज्ञा-पालन पर बल है, वरन् राजाज्ञा से भी वे दृढ़ हैं · मांसाशन का निषेध है। अशोक ने पाश्चात्य देशों तथा दक्षिण एवं लंका में भी बौद्ध-मत फैलाया। मुक्ति उपनिषदों में द्विजों को प्राप्य है, जैनों और बौद्धों में सबको, और गीता में हिंदुओं को। यहाँ ज्ञान, कर्म और भक्तिमार्ग के उपदेश हैं, तथा सांख्य, योग और उपनिषदों का मिश्रण है। गीता के पीछे व्यूह-पूजन पहलेपहल चौथी शताब्दी बी० सी० (सर भांडारकर के आधार पर) के निद्देश ग्रंथ में मिलता है। अनंतर इसका प्रचार बहुत हुआ, जैसा कि पृष्ठ ४१, ४२, ४३ में आ चुका है। वहाँ वासुदेव कृष्ण पर भी बल है।

ऊपर के पृष्ठों में कहा गया था कि पापमोचन का तौबा के समान विचार भारत में पाश्चात्य देशों से फैला। इस विषय पर संदेह निवारणार्थ कुछ कथन यहाँ भी किया जाता है। ऋक् और अथर्ववेदों में भी पापक्षमा के विचार हैं। विनतियों में वरुण और सवितृ से इस प्रकार की प्रार्थनाएँ की गई हैं। बौद्धों में उपर्युक्त पातिमोख की कार्यवाही भिक्षुओं के लिये चली। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि स्वीकृति से पाप की मात्रा कम हो जाती है। गीता में गंगा का माहात्म्य है। तीसरी शताब्दी में ग्रीक लेखकों ने हिंदुओं में गंगा-पूजन पाया। वाल्मीकि के प्राचीन भाग में भी गंगा की महिमा है। फिर भी गंगा आदि से सहजिया पंथ के समान पाप कटने के लटके, यम से पाप कटने से झगड़ों आदि के कथन और विचार तथा देशियों में उनके भारी चलन बहुत प्राचीन नहीं हैं, और पाश्चात्य विचारों पर आधारित समझ पड़ते हैं।

पहली शताब्दी ईसवी में बौद्ध-मत चीन, पूर्वी तुर्किस्तान और फ़ारस में पहुँचा। दूसरी से छठवीं शताब्दी तक षड्दर्शन अंतिम रूप में स्थापित हुए।

इनमें सांख्य,योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा की गणना है। जैसे ऊपर आ चुका है, ये सिद्धांत चले बहुत प्राचीन काल से आते थे, किंतु अंतिम रूप में दृढ़ इस काल हुए। इन सबमें एक दूसरे के मतों के खंडन-मंडन हैं, तथा बौद्ध और जैन-दर्शनों पर भी ये विचार करते हैं। बादरायण व्यास की उत्तरमीमांसा बहुत बढ़कर है। इस काल गीता का भी अच्छा मान था। सांख्य में कैवल्य (मुक्ति) शूद्रों को भी प्राप्य है, किंतु उनसे नीचेवालों को नहीं। वेदांत में वह केवल द्विजों के लिये है, और योग में सबके लिये। पुराण-ग्रंथ भी प्राचीन समय से चले आते थे, किंतु चौथी से छठी शताब्दी तक गुप्त-काल में वे दृढ़ हुए। श्रीमद्भागवत नवीं शताब्दी की है। पुराणों में पीछे भी बहुत-से भाग जुड़ते रहे हैं। भविष्य-पुराण में शिवाजी तक का विवरण है। महाराज संक्षोभ के खोह ताम्रपत्र (सन् ५२८) में भागवत धर्म का अस्तित्व है। उसमें द्वादश अक्षर मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) लिखा है। विष्णुपुराण में पंचरात्र मत है। यह ग्रंथ चौथी शताब्दी से पीछे का नहीं है। पाशुपत मत भी चौथी-पाँचवीं शताब्दी का कहा जाता है। लकुलीश का प्रादुर्भाव सर भांडारकर पहली शताब्दी के निकट मानते हैं, किंतु कुछ लोग उन्हें तीसरी-चौथी शताब्दी का समझते हैं। त्रिमूर्ति का कथन मार्कंडेय और शिव वायवीय पुराणों में है। हरिवंश में हरि हर एक हैं। सर राधाकृष्णन के निष्कर्ष हैं कि पाशुपत भागवत और तान्त्रिक विचार बी० सी० ६०० से ई० २०० तक के बीच के हैं। वेदान्तसूत्र वासुदेव मत की वेद-विरुद्धता की समीक्षा करता है। यह बात ३०० बी० सी० से पूर्व की है। ३०० बी० सी० में विष्णु का महत्त्व बढ़ा, और अनन्तर वासुदेव मत वैष्णव मत हो गया। श्वेताश्वतरोपनिषत् बुद्ध से पीछे का है। गीता वेद के कुछ प्रतिकूल भी है। उसने निर्वाण का विचार बौद्ध-मत से नहीं लिया है।

बौद्ध-मत इस काल मध्य एशिया के खोटान और कुचार तक पहुँचा। चीन में उसकी खासी उन्नति हुई। ३७२ ई० में वह कोरिया गया, छठी शताब्दी में जापान और सातवीं में तिब्बत। महायान और हीनयान के भी

दर्शन अच्छे हैं, और सैकड़ों परमोत्कृष्ट बौद्ध और जैन-ग्रन्थ तथा दर्शन हैं। इन सब उन्नतियों के होते हुए भी सीदियन, कुशान, ग्रीक, हूण आदि के मिश्रणों तथा जैन और बौद्ध-मतों के प्रभाव से सर्वसाधारण में वही मत चला, जो मोटिया होने के कारण उन्हें पसंद आता था। वास्तव में इस काल पौराणिक मत का रूप गीता के साथ और उसके पीछे खूब विकसित हुआ, किन्तु मोटियापन के कारण तार्किक बल की आवश्यकता समझ पड़ी।

(७) तर्कवाद (आठवीं से चौदहवीं शताब्दी पर्यंत)। इसका कथन ऊपर पृष्ठ ६८-७१ पर हो चुका है। शंकर स्वामी ने अद्वैतमतमूलक तर्कवाद चलाया, नाथ-संप्रदाय के बहुतेरे उपदेशकों ने तंत्रवाद और रामानुजाचार्य आदि ने भक्ति-गर्भित तर्कवाद। इस काल हिंदू-धर्म आत्मबल से बहिष्कार द्वारा मुसलमानी धार्मिक आक्रमण का प्रभाव रोक रहा था।

(८) भक्तिवाद (पन्द्रहवीं से १९वीं शताब्दी के मध्य तक)। इसका कथन पृष्ठ ७१ से ७८ तक है। इसमें बहुत करके तर्कवाद छूट गया, और कोरी भक्ति का बल बढ़ा। वास्तव में भक्ति का विचार गीता के आदिम काल से अपने यहाँ था।

(९) विवेकवाद (१९वीं शताब्दी के मध्य से अब तक)।

इसका विवरण पृष्ठ ७८-८० पर है।

इसी स्थान पर हमारे नौ धार्मिक युगों का विवरण समाप्त होता है।

प्राचीन हिंदू-धर्म

हमारा हिंदू-धर्म चला तो वैदिक समय के पूर्व से था, किंतु उपनिषदों तथा भगवद्गीता में उसका मुख्य विकास हुआ। उपनिषत् हैं तो ११९४, किन्तु उनमें से १५० प्रधान हैं। इनमें से भी ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक और छांदोग्य-नामक दश उपनिषत् मुख्य माने जाते हैं। ये चारो वेदों पर फैले भी हैं। ईश शुक्ल यजुः से संबद्ध है; मुंडक, प्रश्न और कठ अथर्व से; तैत्तिरीय कृष्ण यजुः से, ऐतरेय ऋक् से और छांदोग्य साम से। बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण का १४वाँ

अध्याय है, और शुक्लयजुः से संबद्ध है। कौशीतकि भी प्राचीन उपनिषत् है, किंतु गौरव में उपर्युक्त १० के बराबर नहीं। काठक और श्वेताश्वतर में योग और सांख्य के विचार आते हैं, तथा वेदांत शब्द भी आया है। श्वेताश्वतर बुद्ध के पीछे का समझा जाता है, और कठ भी। कुछ पंडितों ने समयानुसार उपनिषदों को चार कक्षाओं में रक्खा है। बृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौशीतकि और केन सबसे पुराने हैं; कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुंडक और महानारायणीय दूसरी कक्षा के; प्रश्न, मैत्रायणीय और मांडूक्य तीसरी में तथा नवीन अथर्ववेदीय उपनिषत् चौथी में। पहली कक्षा ड्यूसेन, मैकडानल और विंटरनिज के मतानुसार है। कीथ ऐतरेय को बृहदारण्यक से पुरानी कहते हैं। आल्डेनबर्ग ऐतरेय, बृहदारण्यक और छांदोग्य को समवयस्क मानते हैं। सर राधाकृष्णन के विचार ऊपर के युग-विभाग में आ चुके हैं। उपर्युक्त दशोपनिषत् प्रधान हैं, और आजकल हमने उन्हें, मूल को अर्थों से मिलाकर, पढ़ा भी है। प्राचीन उपनिषदों तक हमारे यहाँ निर्गुणवाद चलता रहा। अनंतर चार्वाक् कपिल, जैमिनि तथा गौतमबुद्ध आदि महात्माओं के आघातों से लोक में निर्गुण ब्रह्म के साथ ईश्वरवाद पर अश्रद्धा हो गई, अथच शैव-ईश्वरत्व भी गिर गया। तब भगवान् बादरायण व्यास ने भगवद्गीता के द्वारा सगुणवाद का प्रचार करके वैष्णव-ईश्वरता का मान किया। गीता के पीछे प्रायः पाँच सै वर्षों तक वैष्णव-ईश्वरता बौद्ध-धर्म के साथ चलती रही। अनंतर भारत में राजनीतिक क्रांति का समय आया। इससे प्रायः दो सै वर्ष पूर्व से भारत के कुछ भागों में ग्रीक और शक बाहर से आ-आकर स्थापित हो गए थे। आभीर (अहीरों के पूर्व-पुरुष) भगवान् श्रीकृष्ण के समय से पूर्व ही आ चुके थे, और पहली शताब्दी के पूर्व से भी आर्मीनिया से आते जाते थे। कृष्ण-पुत्र शाम्ब के प्रभाव से फ़ारसी मग लोग मूलस्थान (मुल्तान) में बसे, और धीरे-धीरे हिंदू होकर शाकद्वीपी ब्राह्मण हो गए, जैसा कि भविष्य-पुराण में व्यंजित है। सिकंदर का आक्रमण चौथी शताब्दी बी० सी० (ईसा-पूर्व) में हुआ। उस काल दक्षिणी पंजाब में मलोई (मालवीय) नाम्नी एक जाति गण-शासक

(जनता-सत्तात्मक शासक) के रूप में थी। पीछे से इनकी महत्ता मालवे में हुई। समझा जाता है कि जो गुर्जर नाम्नी महती धारा भारत में आई थी, उसी के अंग प्रमार (मालवीय) भी थे।

इस समय पर्यंत आईं तो बहुतेरी जातियाँ, किंतु या तो साधारण रूप में या प्रांतीय विजयिनी होकर। वे सब समय के साथ हमारे समाज में मिलती और उससे अभिन्न-सी बनती रहीं। शक जाति-भेद को मानते न थे, किंतु समय के साथ चातुर्वर्ण्य में आ ही गए। संस्कृत-भाषा का साधारण काम-काज में इन्होंने व्यवहार किया। पहली शताब्दी में तुर्क कुशान पहलेपहल भारतीय सम्राट् हुए। इनकी राजधानी पेशावर थी, और इनका साम्राज्य बनारस से फ़ारस तक फैला था। यही समय ऐसा हुआ, जब भारतवर्ष पहलेपहल एक बाहरी शक्ति के साम्राज्य में सम्मिलित हुआ। थे तो कुशान लोग तुर्क, किंतु उन्होंने भारतीय सभ्यता तथा धर्म को अति शीघ्र अपनाया। उनके सम्राट् वेम कडफ़ाइजेज़ के सिक्कों पर शिव की मानुषी मूर्ति बनी है। इससे प्रकट है कि उसके पूर्व यहाँ शैव धर्म का भी अच्छा मान था। पाशुपत मत से तांत्रिक मत का भी मान था, और कामुक पूजन ने पहलेपहल इसके द्वारा भारतीय आर्यों में थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा पाई।

हम देखते हैं कि यद्यपि इस कुशान-वंश के प्रभाव से उत्तरी भारत विदेशियों के अधिकार में आया, तथापि कुल मिलाकर उनके द्वारा भारतीय संस्कृति का मान ही हुआ। बौद्ध-काल के पूर्व भारत सबल रहा। कई बार अफ़-ग़ानों आदि ने पहले भी भारत पर आक्रमण किए थे। महाराजा सगर के पिता उन्हीं की दाप से राज्य-भ्रष्ट होकर जंगल में रहते थे, जहाँ सगर का जन्म हुआ। वशिष्ठ ने म्लेच्छों की ही सहायता से विश्वामित्र का पराभव किया। हैहय ताल-जंघ ने भी उन्हीं के द्वारा उत्तरी भारत जीता। फिर भी उस काल भारत अति शीघ्र स्वतंत्र हो जाता था, और परदेशियों का यहाँ प्रभुत्व चिर काल तक नहीं रहता था, वरन् भारतीयों का ही आतंक विदेशों में पड़ता था। गौतमबुद्ध के प्रभाव से यहाँ दया की वृद्धि हुई। यद्यपि यह एक स्तुत्य भाव है, तथापि इसकी अनुचित वृद्धि से भारत से शौर्य तिरोहित हो गया। जगद्विजयी

सिकंदर केवल पंजाब में आने का साहस कर सका, और व्यास-नदी को पार करने की हिम्मत उसकी सेना को न हुई। सिकंदर द्वारा पराजित प्रांत चंद्रगुप्त के प्रभाव से केवल छः वर्षों में स्वतंत्र हो गए। मौर्य-साम्राज्य अशोक के समय तक सबल रहा, किंतु बौद्ध-प्रभाव की अनुचित वृद्धि से भारत का शौर्य कुचल गया। सिकंदर के पीछे से शंकराचार्य के समय तक हम गुर्जर, ग्रीक, शक, हूण आदि को बाहर से आ-आकर भारत में विजयी होते तथा बसकर हिंदू बनते देखते हैं।

इन आठ सै वर्षों के समय में राजनीतिक उथल-पुथल के साथ सामाजिक क्रांति भी कम नहीं हुई। ये लोग विजयी तो हुए, किंतु अशोक द्वारा फैलाए हुए उपदेशों के कारण धार्मिक विषयों में इनकी वृत्ति समवाय थी। अतएव बढ़ी हुई हिंदू-सभ्यता के सामने ये लोग आत्मीयता छोड़कर हमीं में मिलते रहे। फिर भी इस मिलाप में इन लोगों की मानसिक उन्नति के अनुसार हमें भी कुछ नए सिद्धांत दृढ़ करने अथवा मानने पड़े। धर्म में राज़ीनामे का यह ढंग अपने यहाँ अथर्ववेद के समय से ही चला आता था। इस क्रांति के काल भी भारत में बौद्ध और जैन पंडित विरुद्ध मत-प्रकाशक थे, तथा स्वयं हिंदुओं में भी वैष्णव, शैव आदि की शाखाएँ थीं। इन सबके सम्मिश्रण का फल यह हुआ कि हमारा निर्गुणवाद एक पूज्य सिद्धांत-मात्र रह गया, एवं सगुणवाद का सगुणत्व बढ़ता गया, तथा उपर्युक्त कारणों से वह प्रतिमा-पूजन की वृद्धि के रूप में अग्रसर हुआ। उधर पाश्चात्य पाप-स्वीकृति एवं तौबा द्वारा पाप-मोचन के सिद्धांत ने अपने यहाँ गंगा, यमुना तथा अन्य अनेक तीर्थ-स्नानों के रूप में पहले से अधिक बल पकड़ा।

शंकर स्वामी के पीछे मुसलमानी मत का खड्ग द्वारा प्रचार होने लगा, जिससे देश को संगठन की आवश्यकता हुई। अतएव हमारे आचार्यों ने भक्ति को बढ़ाकर तथा जाति को दृढ़ करके समाज संगठित किया। १४वीं शताब्दी तक तर्क और भक्ति मिलकर चलीं तथा पीछे केवल भक्ति। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से विवेकवाद चल रहा है। अब ईश्वर-भक्ति का स्थान देश-भक्ति ले रही है, और जाति के शिथिलीकरण द्वारा देशीय संगठन होता

हुआ देख पड़ता है। ब्रह्म तथा आर्यसमाज ऐसे ही विचार चला रहे हैं। इधर साधारण हिंदू आर्यसमाज तक के बंधनों को छोड़कर देश-भक्ति के सहारे धार्मिक तथा सामाजिक संगठन करना चाहते हैं। प्रयोजन यह है कि गीता के समय से हमारा धर्म शांकर काल तक बहुत कुछ परिवर्त्तित हुआ, और योरोपीय संघट्ट से अब और भी शीघ्रता से बदल रहा है। पहली शताब्दी से हमने जो भारी परिवर्त्तन अपने धर्म में किए, वे राजनीतिक उन्नति के विचार से हुए, और उनका फल भी समाज-संगठन में अच्छा पड़ा, यद्यपि धार्मिक सूक्ष्मता कुछ भद्देपन की ओर चली गई। मुस्लिम आगमन के पीछे से समाज संगठन शक्ति द्वारा बढ़ाए जानेवाले मुस्लिम धर्म के आक्रमण को रोकने में हुआ। अब विवेकवाद दूसरे ढंग पर चल रहा है। अतएव हम देखते हैं कि हमारा शुद्ध निर्गुणवाद।जो उपनिषदों में है, उसका सामाजिक विचारों के कारण गीता के सगुणवाद पर आना उत्कृष्ट मार्ग का अनुगामी होकर भी समाज में अनुचित धर्म-परिवर्तन का कारण हुआ। औपनिषद्धर्म के पूर्ववाले हमारे धार्मिक विचार भूमिका के समान थे। प्राचीन प्रतिमा-पूजन का कथन हो ही चुका है। उस काल जड़-पूजन भी चलता था। ऋग्वेद में तैंतीस देवता यज्ञों द्वारा पुजे। शक्ति केवल ईश्वर में मानी गई, किंतु ईश्वर कैसा है, इस प्रश्न पर अधिक विचार न हुआ। यजुर्वेद में याज्ञिक भाव बढ़ा तथा साम-वेद में भक्ति की वृद्धि हुई। अथर्ववेद समाज का कुछ विकसित रूप दिखलाता है। ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञ-संबंधी कर्मकांड बढ़ा। अनंतर औपनिषत्काल आया, जिसका विवरण कुछ विस्तार के साथ यहाँ होगा। सूत्रकाल में हमारी सामाजिक वृद्धि पूर्णता को पहुँची। अनन्तर बौद्ध-काल से युग-परिवर्त्तन हो गया।

जगदुत्पत्ति (छ मंत्र)

अब हम अपने प्राचीन धार्मिक विचारों से मुख्य-मुख्य १२० अवतरण आगे देते हैं। ६ अवतरणों में जगदुत्पत्ति का कथन है, ३७ में ईश्वर का, अन्य ३७ में प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा का, ८ में स्फुट विषयों का तथा ३२ में कर्तव्य का। धार्मिक विचारों से जगदुत्पत्ति का कथन कुछ कठिन है।

यदि जगत् को कार्य और ईश्वर को कारण मानें, तो विश्व-विरचन की आवश्यकता क्या थी, यह प्रश्न उठता है। इच्छा एक दरिद्रता-सूचक भाव है। जिसके पास कोई कमी नहीं, वह इच्छा किस बात की करेगा ? इसीलिये आरंभवाद पक्का नहीं बैठता और परिणामवाद पर आना पड़ता है, अर्थात् ईश्वर शक्ति-समुदाय है, और परमाणु तथा जीवात्मा भी शक्ति के केंद्र अर्थात् शक्ति हैं। संसार अनादि है, और प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से उन्नति करता हुआ वर्तमान दशा को पहुँचा है, तथा भविष्य के लिये भी उन्नति करता ही जाता है।

पहला अवतरण

ईश्वर को ही शक्ति-समुदाय मानता है, किंतु विश्व-विरचन की इच्छा उसमें स्थापित करता है। दूसरा अवतरण प्रकृति को जगत् का सूक्ष्म कारण बतलाकर उसे भक्षणकारी मृत्यु से परिवेष्टित मानता है। संसार में वास्तविक मृत्यु तो है नहीं, किंतु परिवर्त्तन को हम मृत्यु मानते हैं, क्योंकि उससे रूप बदलता है अर्थात् एक वस्तु मरकर दूसरी हो जाती है। संसार में परिवर्त्तन प्रत्येक क्षण होता ही रहता है। इसी से प्रकृति अशना-रूप मानी गई है। प्रकृति ईश्वरांश होने से वह भी मृत्यु-रूप है। उसके तप या श्रम या स्फुरण-शक्ति से संसार बना ही है। अतएव यह मंत्र जगदुत्पत्ति का शुद्ध रूप बतलाता है। तीसरा अवतरण भी इसी प्रकार चलता है। चौथा मंत्र जलोत्पादन कहकर अन्न का कथन करता है। पाँचवाँ सांसारिक शक्ति की क्रिया से निर्जीव और सजीव प्रकृति की उत्पत्ति मानता है। छठा मंत्र भी तप (शक्ति) द्वारा जगदुत्पत्ति मानकर ईश्वरीय शक्ति से ही संसार को स्थिर समझता है।

ईश्वर (३७ मंत्र)

ईश्वर-संबंधी इन ३७ मंत्रों में १७ ईश्वरवाद-संबंधी हैं। कई उपनिषदों से वे आए हैं, किंतु यहाँ मिलाकर लिखे जाते हैं। हवाले आगे मिलेंगे।

याज्ञवल्क्य ऋषि ने संसार को कार्य मानकर ईश्वर को कारण कहा।

इस पर गार्गीदेवी ने ईश्वर को भी कार्य मानने की आपत्ति उठाई, जिस पर ऋषिवर ने उत्तर दिया कि केवल शास्त्र से ज्ञेय ईश्वर तर्क से नहीं जाना जा सकता। अतएव केवल विश्वास पर अवलंबित होकर यह विश्वकर्तृत्व-वाद संदिग्ध हो गया। कठोपनिषत् में नचिकेता ने यमाचार्य से अध्यात्म-शिक्षा का वर माँगा। इस पर यम ने कहा कि अब तक यह विचार अज्ञात रहा है, अर्थात् विश्वकर्तृत्ववाद संदिग्ध है। अनंतर ईश्वर के ज्ञान का वर्णन चलता है। इस विषय पर सबसे बड़ा तर्क धृत्यायोजनवाद है। संसार नियम पर स्थित है, और इसकी उन्नति अंध-शक्ति द्वारा नहीं हो सकती थी। नियम बिना नियंता के स्थिर नहीं हो सकते। यही थोड़े शब्दों में धृत्यायोजनवाद है। हमारे ऋषियों ने इसके साथ जिज्ञासु में सदाचार का भी होना आवश्यक माना है। ईश्वर के निर्गुणपन पर भी जोर दिया गया है। उसका मुख्य ज्ञान सत्ता-मात्र का है। अवतरण नं० २३ तक यह वर्णन समाप्त हुआ है।

आगे चलकर २४वें अवतरण से वह कैसा है, इस प्रश्न पर विचार होता है। इनमें अन्वयवाची तथा व्यतिरेकवाची दोनो प्रकार के विचार हैं, किंतु उपनिषदों में केवल निर्गुणवाद है, और गीता में निर्गुण-सगुण दोनो। हमारे साहित्य में गीता से ही पहलेपहल सगुणवाद चलता है। अवतरण २६ में ईश्वर का बहुत उत्कृष्ट विचार मिलता है। उसका पितृ-भाव ३८वें अवतरण में है। ३६वें से ४१वें तक अवतार का विचार है। अवतार में ईश्वरी समग्रांश नहीं माना गया है। ४३वें अवतरण पर्यंत ईश्वर का वर्णन है। यह बहुत ही सूक्ष्म तथा चमत्कार-पूर्ण है। अवतरण देखना चाहिए। यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जाती है। उपनिषदों में अवतार नहीं है।

जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा (४४--८०)

जीवात्मा का सबसे भारी प्रमाण अन्तःकरण चतुष्टय है, जिसका कथन ५०वें अवतरण में है। ७३वाँ एवं ५२वाँ अवतरण संसार को ईश्वरमय कहता है। ५३वें में प्रकृति और पुरुष अनादि हैं। ६४वें में गंगा की महत्ता है, किंतु गंगा-स्नान से पुण्य का कथन नहीं है। ६८वें तथा ६६वें अवतरणों

में वृक्षों में भी जीवात्मा है तथा मनुष्य बुरे कर्मों से नीच योनियों में गिरता है। ४४वें से ८०वें अवतरण तक इस विषय का वर्णन है। इन अवतरणों में इन विषयों पर अपने शास्त्रों के न्याय-युक्त विचार हैं।

स्फुट विषय (८१-८८)

इस विषय में देवताओं, ब्रह्मा, अग्नि, वेदार्थ आदि पर कथन हैं।

कर्तव्य-शिक्षा (८९—१२०)

इसमें आचारशास्त्र के बहुत ही अच्छे-अच्छे अवतरण हैं, जिनमें सत्य, संन्यास, योग, सत्कर्म आदि पर श्रेष्ठ आदेश हैं। पुनरुक्ति के भय से यहाँ विस्तार नहीं किया जाता है। इन १२० अवतरणों पर मनन करने से अपने यहाँ का प्राचीन, शुद्ध हिंदू-धर्म ज्ञात हो सकता है। इन ग्रंथों में अग्नि, ओंकार आदि विषयों पर भी शिक्षाएँ हैं, किंतु तीर्थों, प्रतिमा, जाति के मान आदि पर नहीं।

जगदुत्पत्ति—दशोपनिषत्

१

निश्चय करके यह (जगत्) एक आत्मा ही (की सत्ता में) सृष्टि से पहले था, उस (आत्मा) से इतर चैतन्य कुछ न था, और लोकों (पंचभूतों) को मैं सृजूँ, ऐसा वह (आत्मा) सोचता भया। इसका मूल यों है—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत, सईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

(ऐतरेयोप० १)

२

बृहदारण्यकोपनिषत् (अध्याय प्रथम, ब्राह्मण द्वितीय, मंत्र १—३)

इस जगत् की सूक्ष्म-कारण प्रकृति अशना (भक्षणकारी) रूप मृत्यु से ढकी है। इस मृत्युरूप ईश्वर की इच्छा के श्रम से अग्नि उत्पन्न हुई। अग्नि, सूर्य और वायु उसके अंग हैं।

३

छांदोग्योपनिषत् (षष्ठ प्रपाठक, खंड २, ३)

पहले एक सत्-मात्र था, जिसने कहा कि बहुत होऊँ। तब उसने रक्त-

रूप तेज उत्पन्न किया, जिससे श्वेत-रूप जल हुआ, और जल से कृष्ण-रूप पृथिवी हुई। इन तीनो तेजादि भूतों में ईश्वर ने आत्मा द्वारा प्रवेश करके नाम और रूप बनाए।

४

सोऽपोऽभ्यतपत ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत या वै सा मूर्त्तिरजायतान्नं वै तत्।
(ऐतरेयोप० १०)

उस (ईश्वर) ने जल (आदि पंचमहाभूतों) को तपाया (संकल्प से भावित किया)। उन तपाए हुओं से मूर्ति उत्पन्न हुई, और जो वह मूर्ति उत्पन्न हुई, सो ही निश्चय करके अन्न (भोग्य वस्तु) है।

५

प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते, रयिञ्च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत, इति। (प्रश्नोप० ४)

प्रजा की कामना से उस प्रजापति ने तप (क्रिया-शक्ति का व्यवहार) किया, उसने तप करके उस जोड़े को उत्पन्न किया, (जिसमें) एक भोग्य (रयि) था, और एक भोक्ता (प्राण), यह समझकर कि ये दोनो मेरे बहु प्रकार के प्रजा (जीवित शरीरों) को करेंगे, ऐसा। रयि अप्राण प्रकृति है।

६

तैत्तिरीयोपनिषत् (दूसरी वल्ली, छठे, सातवें तथा आठवें अनुवाकों का भाग) सः तपः अतप्यत् (उसने तपस्या की)। सः एवम् तपः तप्त्वा (उसने इस प्रकार तप करके) इदम् सर्वम् असृजत् (इस सारे जगत् को रचा)। (यहाँ तप से शक्ति के व्यवहार का प्रयोजन समझ पड़ता है।) सत् (उस एकाकार ब्रह्म ने) स्वयम् (ख़ुद) आत्मानम् (अपने को) एव (ही) अकुरुत (जगत् रूप किया)। अस्मात् (उस ब्रह्म के) भीषा वायुः पवते (भय से वायु चलता है)। अस्मात् भीषा सूर्यः उदेति (उदय होता है), च अस्मात् भीषा अग्निः धावति, च अस्मात् भीषा इन्द्रः (मेघ) धावति, इति (इसी प्रकार) अस्मात् भीषा पञ्चमः (वायु, सूर्य, अग्नि

और इंद्र से पाँचवीं) मृत्युः धावति (मौत अपने कार्य में प्रवृत्त है)। (प्रयोजन यह है कि सारा संसार ईश्वर की ही शक्ति से चल रहा है।)

७

ईश्वर का ज्ञान

बृहदारण्यकोपनिषत् (तीसरा अध्याय, ब्राह्मण छठा—८) ६ (१)— केवल शास्त्र से जानने योग्य ब्रह्म तर्क से नहीं जाना जा सकता। (इसमें केवल विश्वकर्तृत्व से ईश्वर सिद्ध किया गया है।)

८

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मामापरोत्सीरतिमा सृजैनम् ॥ (कठोप० १२)

यह धर्म (ब्रह्म-विचार) भारी सूक्ष्मता के कारण प्राचीन काल में भली भाँति जानने योग्य नहीं हुआ है, (यद्यपि) बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इस पर विचार किया है। हे नचिकेता ! दूसरा वरदान माँग ले, इस वर को त्याग दे, मुझे मत दबा। (प्रयोजन यह है कि बृहदारण्यकादि के विश्वकर्तृत्व आदि के विचारों से भी यह प्रश्न अब तक सुविज्ञेय नहीं हुआ है।)

९

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किलत्वञ्च मृत्योयन्न सुविज्ञेयमात्थ।

वक्ताचास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ (कठोप० २२)

(नचिकेता का वचन) इस विषय पर विद्वानों ने भी विचार किया है, और हे मृत्यु (यमाचार्य) आपने भी (विचार किया है), जिसे आप न सुविज्ञेय कहते हैं। (अतएव) आपके सिवा दूसरा इसका कहनेवाला नहीं मिल सकता। इसके बराबर कोई दूसरा वर नहीं है।

१०

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ (कठोप० ४१)

उस कठिनता से ज्ञात होनेवाले, छिपे हुए, जीव के भी भीतर प्रवेश करनेवाले, बुद्धि के भीतर स्थिर, कठिनता से गम्य स्थान में स्थित, पुराने,

इंद्रिय-निरोध करके योग (कुशल कर्म) द्वारा जानने योग्य देव (प्रकाश-स्वरूप) को जानकर ध्यान करनेवाला हर्ष और शोक त्याग देता है।

११

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-दन्यदेव, तद्विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥

(कठोप० ४)

वहाँ (ईश्वर के ज्ञान में) आँख नहीं जाती है, न वाणी जाती है, न मन ; नहीं समझते न जानते हैं (कि) यह कैसे जाना जावे ? और प्रकार ही (सुकर्म और बुद्धि से) वह जाना जाता है, इसके अतिरिक्त इंद्रियों से नहीं जाना जाता, ऐसा हम सुनते आते हैं उन प्राचीनों से, जो हमारे लिये ब्रह्म की व्याख्या कर गए हैं। [केनोपनिषत् के आगे आनेवाले भाग की शिक्षा है कि अग्नि (नेत्र), मरुत् (त्वचा) और इंद्र (जीवात्मा) बिना उमा (बुद्धि) की सहायता के उसे नहीं जान सकते ।]

१२-१३

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केनोप० ५)
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ (केनोप० ८)

जो मन से नहीं विचारा जाता, जिससे मन विचार-शक्ति पाता है, ऐसा कहते हैं। जो प्राणों से नहीं अनुमान किया जाता, जिससे प्राण अपना काम करते हैं, उसी को तू ईश्वर जान, न इसे, जिस इसकी उपासना करता है।

१४

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठोप० ६६)

जो सब भूतों (सजीव-निर्जीव पदार्थों) में छिपे (व्यापक) होने से

देख नहीं पड़ता, (वह) सूक्ष्म-दर्शियों द्वारा सूक्ष्म आगेवाली (सब बातों को जाननेवाली) बुद्धि से जाना जाता है।

१५

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ (कठोप० ११०)

इस (परमात्मा) का रूप सामने नहीं खड़ा होता, इसे कोई आँख से नहीं देखता, (यह) हृदयस्थ बुद्धिरूप विचार से जाना जाता है, (और) जो इसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं (निर्वाण प्राप्त करते हैं)।

१६

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।

अस्तीति ब्रुवतो अन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ (कठोप० ११२)

वह (परमात्मा) न वचन से मिल सकता है, न मन से, न नेत्र से। वह है, केवल इतना कहते हुए (ज्ञात हो सकता है), और प्रकार से उसे कैसे पा सकते हैं ?

१७

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तदेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। (मुण्डको० ४२ तथा कठोप० १०१)

उस (ब्रह्म) में न सूर्य प्रकाश करता है न चंद्र-तारे, न यह बिजली, यह अग्नि कहाँ है (उसके आगे कुछ नहीं है)। उसी के प्रकाशित होने से सब प्रकाशित है, उसी के प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित होता है। यहाँ द्वैतवाद है।

१८

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ (कठोप० ११४)

वह है, तथा तत्त्वभाव (पंचतत्त्व के अस्तित्व एवं कार्यों), इन दोनों से (वह ईश्वर) प्राप्त होने योग्य है। जिस मनुष्य ने वह (ईश्वर) है, ऐसा (निश्चय) प्राप्त कर लिया है, उसका तत्त्वभाव (शरीरेंद्रियों का समुदाय)

प्रसाद को प्राप्त होता है। यहाँ तत्त्वभाव से ईश्वरी स्थिति का ज्ञान प्राप्त माना गया है, सो धृत्यायोजनवाद है।

१६

अथर्ववेद १४ । १ । १ । १ ब्रह्म सबका सत्ता देनेवाला है।

२०

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवा सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ (कोप० ८०)

जिससे (जिसके कारण से) सूर्य उदय होता और जहाँ (जिसके नियम से) अस्त होता है, उसी से देवताओं (नर-योनि) ने सब कुछ पाया है, (और) उसका अतिक्रमण (आज्ञा-भंग) कोई नहीं कर सकता। यहाँ धृत्यायोजन-वाद का समर्थन है।

२१

स एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (कोप० ६४)

जो यह पुरुष (परमात्मा) (संसार को) बनाता हुआ कामना को पूरी करनेवाला सोते हुओं में जागता है, उसी में सब लोक ठहरे हुए हैं, (और) उसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। यहाँ भी धृत्यायोजन-वाद का समर्थन है। यदि संसार बनाया, ऐसा कहते, तो कार्य-वाद आ जाता; बनाता हुआ कहने से धृत्यायोजन-वाद है।

२२

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥ (कोप० १०४)

(उसी के) भय (प्रभाव) से आग तपती है, भय से सूर्य तपता है, भय से इंद्र (मेघ), वायु और पाँचवीं मृत्यु दौड़ती (काम करती) हैं। यहाँ भी धृतिवाद है।

२३

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ (कठोप० ६५)

जैसे एक अग्नि भुवन (उत्पन्न वस्तुओं) में प्रवेश किया हुआ प्रत्येक रूप के साथ उसी रूप का हुआ, उसी प्रकार सब वस्तुओं में व्यापक होनेवाला परमात्मा प्रत्येक रूप के साथ उसी रूप का तथा बाहर भी है। इसी प्रकार मन्त्र ६६ अग्नि के स्थान पर वायु को कहकर इन्हीं शब्दों में प्रयोजन कहता है।

अब ईश्वर कैसा है, सो बतलाते हैं।

२४

(८)—अक्षर ब्रह्म असंग (एकरस), परिपूर्ण (सबके बाहर-भीतर) तथा अविनाशी है। (बृह० अ० ३)

२५

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ (कठोप० ६६)

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अगन्धवान्, अनादि, अनन्त, पर (सबसे बड़ा), महान्, ध्रुव (एक रस स्थिर) है, उसको जानकर (ज्ञानी) मृत्यु-मुख से छूटता (निर्वाण प्राप्त करता) है।

२६

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सौम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः। (प्रश्नोप०)

अति सूक्ष्म, नाश-रहित है वह और वह छायारहित (क्योंकि सब जगह प्रस्तुत है अथच छाया ऐसे स्थान पर पड़ती है, जहाँ वह न हो), अशरीर, विना रंगवाला, शुद्ध, नाश-रहित है। जान सकता है, जो शांत है। वह सब कुछ जाननेवाला हो जाता है। उसके लिये यह श्लोक है।

२७

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डक ६)

जो वह अद्रेश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अकर्ण, अपाणि-पाद, नित्य, व्यापक, सर्वांतर्यामी, बहुत महीन, अव्यय तथा भूतयोनि (जड़-चैतन्य की सृष्टि का कारण) है, उसे धैर्यवान् लोग समझते हैं।

२८

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः॥ (मुण्ड० २४)

वह सर्वव्यापक, प्रकाशस्वरूप, अमूर्त्त, अजन्मा, निश्चयपूर्वक बाहर-भीतर विद्यमान है। वह निश्चयपूर्वक अप्राण, अमन, शुद्ध, नाश-रहित होने से बड़े-से-बड़ा है।

२९

तैत्तिरीयोपनिषत् (दूसरी वल्ली, प्रथम अनुवाक् का भाग)—

ब्रह्मवित् परम् (ऊँचे से ऊँचे को) आप्नोति (प्राप्त होता है)। तत् (उसमें) एषा अभ्युक्ता (यह ऋचा कही गई है [वेद में]), सत्यम् (विकार शून्य), ज्ञानम् (ज्ञान-स्वरूप), अनंतम् (काल, दिक् और देश की अवधि से शून्य), इति (ऐसा) ब्रह्म।

३०

१४ (२)—परमात्मा है मनोमय (ज्ञान-स्वरूप), प्राण शरीर (विश्व-रूप), सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मा (सर्वकाम), सर्वगन्ध, सर्वरस, सर्वइदं अभ्यात् (सर्वव्यापी), अवाकी और अनादर (पक्षपात-रहित), (छान्दो०, प्रपा० ३)।

३१

५ (१९)—परमात्मा अपूर्ण (कारण-रहित), अनपर (कार्य-रहित), अनंतर और अनादि है। वही सर्वांतर होने से आत्मा और सर्वानुभवी होने से ब्रह्म है। (बृहदार०, अध्याय २)

बृहदारण्यकोपनिषत् (अध्याय चौथा, ब्राह्मण २—४)।

३२

२ (४)—जिसकी सत्ता से यह जीव अहर्निश जाग्रदादि अवस्थाओं

का भोक्ता होता है, वही नेति-नेति द्वारा प्रतिपाद्य आत्मा ब्रह्म है। वह अस्पृश्य, अशीर्य्य (क्षीण न होनेवाला), असंग, असित (निर्बंध), आनन्द-स्वरूप (दुखी न होनेवाला) और सन्मात्र (एकरस) है।

३३

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ (अ० १३, सं० १३, गीता)

उस (ईश्वर) के संसार में सब कहीं हाथ, पैर, आँख, शिर, मुख, कान हैं, और सबमें व्याप्त होकर वह स्थित है।

३४

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। (अ० १२, सं० ६, गीता)

न तो उसे सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा, न अग्नि। जिसमें जाकर लोग वापस नहीं आते, वह मेरा परमधाम है।

३५

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ (अ० १३, सं० २७, गीता)

विनाश पानेवालों में न मरनेवाले सब भूतों में समान भाव से स्थित परमेश्वर को देखनेवाला ज्ञाता है।

३६

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ (अ० २, सं० १७, गीता)

ततम् = बहुषु मध्ये सः। जिस (परमात्मा) ने इस पूरे (जगत्) के बहुत्व में एकत्व किया है, उसको तू अविनाशी जान, उस अव्यय (खर्च न होनेवाले) का विनाश कोई भी नहीं कर सकता। (प्रयोजन यह है कि संसार का बहुत्व परमेश्वर के द्वारा एकत्व में परिणत है।)

३७

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ (अ० २, संख्या १६, गीता)

असत् की स्थिति नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। तत्त्वज्ञों ने इन दोनो का यही परिणाम देखा है।

३८

ईश्वर में सगुणत्व (गीता में यहाँ तथा अन्यत्र) है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ (अ० ११, सं० ४३-४४, गीता)

तुम इस चराचर लोक के पिता, पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हो। जैसे पिता पुत्र के, मित्र मित्र के और पति पत्नी के (अपराध) क्षमा करता है, वैसे क्षमा कीजिए।

अवतार

३९-४०

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ (अ० ४, सं० ७, गीता)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (अ० ४, सं० ८, गीता)

हे भारत! जब धर्म की बलहीनता एवं अधर्म का प्राबल्य होता है, तब साधुओं की रक्षा, दुष्टों का विनाश, एवं धर्म का भली भाँति स्थापन करने को मैं अपने को बनाता (अवतार लेता) हूँ।

४१

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ (अ० ७, सं० २४, गी...)

बुद्धिहीन लोग मेरा बड़ा, नित्य तथा अत्युत्तम विचार न जानकर मुझ अज्ञेय को व्यक्ति (जीवधारी) में प्राप्त मानते हैं। (यहाँ प्रयोजन

यह है कि ईश्वर का समग्रांश अवतार तक में नहीं आ सकता, वरन् अवतार में ईश्वर की विशेषता-मात्र है।)

४२

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ (अ० ७, सं० १६ गीता)

हे भारतों में श्रेष्ठ! चार प्रकार के सुकृती पुरुष मेरा भजन करते हैं, अर्थात् बीमार, विद्यार्थी, प्रयोजनाकांक्षी और ज्ञानी।

४३

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ (अ० ९, सं० २३ गीता)

हे कुन्ती-पुत्र! जो लोग श्रद्धा के साथ अन्य देवताओं की भक्ति करके दान-सहित उनकी अर्चा करते हैं, वे भी विधि-हीन प्रकार से मेरा ही भजन करते हैं। (प्रयोजन यह है कि वास्तव में केवल ईश्वर पूज्य है।)

जीवात्मा

४४

१४ (४) शाण्डिल्य ऋषि का कथन है कि जीवात्मा ब्रह्म है।

(छान्दो० प्रपा० ३)

४५

छान्दोग्योपनिषत् (तृतीय प्रपाठक, खण्ड १४)

१४ (१) सर्वंखल्विदं ब्रह्म। (यह सारा संसार निश्चय ब्रह्म है।)

४६

४ (१२) अयमस्मि। (मैं परमात्मा हूँ।) (बृह० अ० ४)

४७

छान्दोग्योपनिषत् (सप्तम प्रपाठक, खण्ड १७-२५)

(१७—२३) मनन, श्रद्धा, निष्ठा और कर्तव्य द्वारा सत्य ज्ञातव्य है। भूमा परमात्मा को कहा है।

२४ (१)— जो अन्य को नहीं देखता, नहीं सुनता और नहीं जानता

है, वह भूमा है। जो अन्य को देखता, सुनता और जानता है, वह अल्प है। भूमा अमृत है, अल्प मर्त्य है।

२५ (१—२)—आत्मा सर्वत्र व्यापक है।

४८

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य नश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ (मुण्डको० ४४)

दो पक्षी (चैतन्यात्मा अर्थात् आत्मा और परमात्मा) पृथक् न होनेवाले मित्र एक वृक्ष (तरु के समान वस्तु शरीर) में व्यापक हैं। उनमें से एक पीपल के फल को सुस्वादु (समझकर) खाता है, (अथच) दूसरा न खाता हुआ उसको देखता है। (यहाँ जीवात्मा का परमात्मा निरीक्षक है, किंतु वह संसार से अलिप्त है। परमात्मा जीवात्मा में व्यापक है, सो दोनो पृथक् नहीं हो सकते। इसी से वे मित्र हैं।)

छान्दोग्योपनिषत् (षष्ठ प्रपाठक, खण्ड ८, ६ तथा ११)

४६

८ (६, ७)—इदं सर्वं तत्सत्यम् तत्त्वमसि (यह सब जो कुछ है, वह सब सत्य है और वह तू है।) जब यह पुरुष प्रयाण करता है, तब वाणी मन में लय हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता (परब्रह्म) में। वह जो अणु रूप जीव शेष रह जाता है, वह सब आत्मा का भाव है, और सत्य है। वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो, वह आत्मा तू है।

६ (४)—वह जो सूक्ष्म जीव है, इसी आत्मा का वह भाव है और सत्य है। सः आत्मा श्वेतकेतो तत् त्वम् असि।

५०

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ (अ० १५, सं० १५ गीता)

मैं सबके हृदय में भली भाँति स्थित हूँ, मुझी से स्मरण, ज्ञान और तर्क हैं, सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ, तथा वेदान्त का कर्ता एवं वेदज्ञ मैं हूँ। (अन्तःकरण-चतुष्टय जीवात्मा का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है।)

५१

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ (अ० ६, सं० ३१ गीता)

जो योगी मुझे सब भूतों (जीवित और निर्जीव पदार्थों) में स्थित भी एकत्व में ही प्राप्त भजता है, वह किसी दशा में होकर भी मुझी में वर्तमान है। आस्थित = आलम्बित।

५२

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ (अ० १५, सं० १३ गीता)

मैं पृथिवी में प्रवेश करके सामर्थ्य से समस्त भूतों को धारण करता हूँ, तथा रस-मूलक चन्द्रमा होकर सब दवाओं का पोषण करता हूँ (यहाँ धृतिवाद है।)

प्रकृति और जीवात्मा

५३-५४

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ (अ० १३, सं० १९ गीता)

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (अ० १३, सं० २१ गीता)

(अष्टधा) प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा) ये दोनो अनादि हैं, तथा विकार (परिणाम) और गुण (सत्त्व, रजादि) प्रकृति से उत्पन्न हैं। जीवात्मा प्रकृति ही में रहकर उसके गुणों का भोक्ता है, (सो) विविध गुणों के संग-वश उसका अच्छे अथवा बुरे शरीरों में जन्म होता है।

५५-५६

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ (अ० १५, सं० १६ गीता)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ (अ० १५, सं० १७ गीता)

संसार में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। सब भूतों को क्षर कहते हैं और पर्वत के समान जो स्थित है, वह अक्षर है। (यहाँ क्षर जड़-जगत् को कहा है और अक्षर जीवात्मा को।) इन दोनो से इतर उत्तम पुरुष परमात्मा कहलाता है, जो अविनाशी स्वामी है और जो तीनो लोकों में व्याप्त होकर उनका पोषण करता है।

५७-५८

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्नाः प्रकृतिरष्टधा ॥ (अ० ७, सं० ४ गीता)
अपरेयमितिस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेऽपराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ (अ० ७, सं० ५ गीता)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार नाम्नी आठ प्रकार की विभाजित मेरी प्रकृति है। यह (आठ प्रकार की प्रकृति) अपरा है, हे महाबाहु, मेरी दूसरी परा प्रकृति जानो, जो (परा) जीव होकर इस संसार को धारण करती है।

५९-६०

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (अ० ७, सं० ६ गीता)
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ (अ० ७, सं० ७ गीता)

यह समझो कि ये दोनो प्रकार की प्रकृतियाँ सब भूतों (जड़-चेतन) की उत्पत्ति-स्थल हैं, और मैं पूरे संसार का उत्पन्न और नाश करनेवाला हूँ। हे अर्जुन, मुझसे कुछ भी बड़ा नहीं है, यह सब (संसार) सूत में मणियों की भाँति मुझी में पिरोया हुआ है।

६१-६२-६३

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ (अ० १०, सं० १९ गीता)

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ (अ० १०, सं० २० गीता)
रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ (अ० १०, सं० २३ गीता)

अच्छा, हे कौरवों में श्रेष्ठ (अर्जुन)! मैं तुमसे अपनी स्वर्गीय विभूतियों को कहता हूँ। मुख्यतया मुझ फैले हुए का अन्त नहीं है। हे पार्थ! सब भूतों के भीतर स्थित आत्मा मैं हूँ। भूतों का आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ। रुद्रों में मैं महादेव हूँ, यक्ष-राक्षसों में कुवेर, वसुओं में अग्नि और चोटीवालों (पहाड़ों) में सुमेरु हूँ।

६४

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां स्रोतसामस्मि जाह्नवी ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ (अ० १०, सं०३०-३१ गीता)

मैं दैत्यों में प्रह्लाद हूँ और सोतेवालों में गंगा। एक अंश से ही मैं समस्त संसार में व्याप्त हूँ।

६५

३ (६)—स्वप्नावस्था में आत्मा ही ज्योति है। (बृह० अ० ४)

६६

३ (११)—जाग्रत्, स्वप्न, लोक और परलोक में एकाकी गमन करने के कारण जीव हंस कहलाता है। (बृह० अ० ४)

६७

३ (१५)—स्वप्न में पुरुष असंग है। (बृह० अ० ४)

६८

११ (१)—वृक्ष में भी जीवात्मा है। (छान्दो०, प्रपा०)

६९

बुरे मनुष्य पशु आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं। (मुंडकोप० प्रथम मुंडक, द्वितीय खंड, मंत्र ६)

७०

विद्वान् वामदेव अमृत (जन्म-मरण-रहित अर्थात् मुक्त) हुआ। (ऐतरेयोप० २६)

७१

छांदोग्योपनिषत् (अष्टम् प्रपाठक, खंड १-३)

१ (६)—परलोक के भोग-साधन पुण्यजित् लोक समय पर क्षय हो जाते हैं।

२ (१०)—परलोक में पुण्यात्मा पुण्य-बल से सब प्राप्य कामनाएँ पूर्ण कर सकता है।

३ (४)–यह संप्रसाद (जीवात्मा) इस शरीर को त्यागकर पर ज्योति को प्राप्त हो, निज रूप में उसी में विचरता है। जिसमें यह जीवात्मा स्थित होता है, वही आत्मा है, अमृत है, अभय है, ब्रह्म है और सत्य है।

७२

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं, यन्मूर्तञ्चामूर्तञ्च, तस्मान् मूर्तिरेव रयिः। (प्रश्नोप० ५)

सूर्य स्पष्ट प्राण है, रयि चंद्रमा है तथा यह सब कुछ भी जो मूर्त या अमूर्त है। इस कारण से मूर्त (दृश्य पदार्थ) ही रयि (भोग्य) है।

७३

(बृहदारण्यकोपनिषत् अध्याय दूसरा, ब्राह्मण ४, ५)

४ (११-१२) संपूर्ण पदार्थों का एकमात्र आशय परमात्मा है, तथा सारा संसार ब्रह्म की सत्ता में है।

७४

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात॥ (मांडूक्यो० २)

यह सब (सारा संसार) निश्चय करके ब्रह्म है। यह आत्मा (जीवात्मा) ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार भागोंवाला है।

७५

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी-

वायुराकाशआपो ज्योतींपीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जंगमं च पतत्रि च यच्च स्थावरम् सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम् प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठिताः प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐतरेयोप० ३२)

यह आत्मा ब्रह्म है, यही इंद्र है और यही प्रजापति है, और सब ये देवता ब्रह्म हैं, और पंचमहाभूत—पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज ये सब ब्रह्म हैं, और कीड़े-मकोड़े भी और बीज (कारण) और इतराणि (कारण से इतर पदार्थ अर्थात् कार्य), और अन्य अंड से उत्पन्न जीव, और जरायुज सृष्टि (गऊ आदि), और पसीने से उत्पन्न जीव, और पृथिवी फोड़कर उत्पन्न होनेवाले (वृक्षादि), ये सब ब्रह्म हैं, और घोड़े, गऊ, बैल, मनुष्य, हाथी और जो कुछ यह (दृश्यमान) प्राणी चलनेवाले, और जो अचल (पर्वतादि) हैं, सो सब प्रज्ञान नेत्रवाले प्रज्ञान में स्थिर हैं, और लोक प्रज्ञानेत्र है और प्रज्ञा जगत् का सहारा है, अतएव प्रज्ञान ही परब्रह्म है।

७६

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत। (अ० २, सं० १८ गीता)

नित्य (अमर), अविनाशी, अज्ञेय शरीरी के देह नाशवान् हैं, अतएव हे भरत-वंशज, युद्ध करो। (युद्ध करना महाभारतीय प्रसंग के कारण कहा गया है।)

७७

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (अ० २, सं० २० गीता)

(शरीरी) न कभी पैदा होता है न मरता है, यह न कभी हुआ था, न फिर होने को है। (यह) अजन्मा, स्थायी, घटाव-बढ़ाव से रहित और सनातन है तथा मरने-योग्य शरीर में नहीं मरता।

७८

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥(अ०२, सं० २२ गीता)

जैसे मनुष्य पुराने कपड़े छोड़कर अन्य नये लेता है, वैसे ही देही (शरीरी या आत्मा) पुराने शरीरों को छोड़-छोड़कर अन्य नवीन शरीरों में जाता है ।

७६

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ (अ० २, सं० २८ गीता)

इन भूतों (उत्पन्न जीवधारियों) का आदि अज्ञात है, मध्य ज्ञात है, तथा मरने के पीछे का भी व्योरा अज्ञात है, ऐसी दशा में शोक ही क्या है ?

८०

कर्म के कारण मनुष्य का पुनर्जन्म होता है, क्योंकि अगर ऐसा न हो, तो कृतनाश तथा अकृताभ्यागम (न किये की प्राप्ति) का दोष लगता है । जब पुण्य से अंतःकरण शुद्ध हो जाता है, तब पुनर्जन्म नहीं होता ।

(बृहदार० ६-२०)

स्फुट कथन

८१

तैत्तिरीयोपनिषत् (प्रथम वल्ली, तृतीय अनुवाक्) में आया है कि प्रत्येक वैदिक ऋचा का अर्थ पाँच अधिकरणों से हो सकता है, अर्थात् अधिलोक, अधिज्योतिष्, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म ।

८२

देवता ३३०६ हैं, तथा ६, ३, २, १½ अथच १ भी । वास्तव में ३३ देवता हैं तथा ३३०६ इन्हीं की महिमा हैं । ३३ देवता हैं ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र और प्रजापति । अग्नि, पृथिवी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र, ये आठ वसु हैं । ५ ज्ञानेंद्रिय, ५ कर्मेंद्रिय और

मन ये ग्यारहो रुद्र हैं। बारहो महीने आदित्य हैं। मेघ इंद्र हैं, तथा यज्ञ, अग्निहोत्रादि प्रजापति। उपर्युक्त पहले के छ वसु देवता हैं। अन्य देवता इन्हीं के अंतर्गत हैं। वरुण जलोत्पादक शक्ति है। परमात्मा वरुण देवता हैं। परमात्मा अगृह्य, अशीर्य (क्षीण न होनेवाला), असंग और असित (बंधन-रहित) है।

(बृहदारण्यकोपनिषत् तीसरा अध्याय, ब्राह्मण नवां)

८३

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ (मुण्डको० १)

संसार का कर्ता, प्राणियों का रक्षक ब्रह्मा देवतों में पहले हुआ। उसने सब विद्याओं के ठहरने के स्थान ब्रह्मविद्या को अपने बड़े पुत्र अथर्व को कहा।

८४

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता याच सुधूम्रवर्णा।

स्फुलिंगिनी विश्वरूपी च देवी लेलायनामा इति सप्तजिह्वा॥ (मुण्डको० १२)

काले रंगवाली, भयंकर, मन के समान वेगवाली, अच्छे लाल रंगवाली, शुद्ध धुयें के रंगवाली, चिनगारियोंवाली, संसार के रूपवाली (जिसमें सब प्रकार के अंग हैं), दहकते हुए प्रकाश से युक्त यह देवी (अग्नि) सात जीभों वाली है।

८५

२ (२)—विद्वान् लोग रहस्य-प्रिय होने से इंध को छिपाकर इन्द्र कहते हैं। (बृह० अ० ३)

८६

छान्दोग्योपनिषत् (तृतीय प्रपाठक, खंड १६, मंत्र ७)

ऐतरेय ऋषि के पुत्र महीदास ब्रह्मचारी ११६ वर्ष जीवित रहे।

८७

बृहदारण्यकोपनिषत् (छठवाँ अध्याय, ब्राह्मण दूसरा, मंत्र ७-८)

आपत्काल में विद्या की इच्छावाले ब्राह्मणों ने वाणी द्वारा क्षत्रिय तथा

वैश्यों की शिष्य-वृत्ति की, सेवा द्वारा नहीं। अतएव श्वेतकेतु के पिता गौतम ने पांचाल-नरेश राजा प्रवाहण का शिष्यत्व ग्रहण किया। राजा ने कहा कि यह विद्या केवल क्षत्रियों में थी, ब्राह्मणों में नहीं; किन्तु अब बतलाता हूँ।

८८

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधादृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति। (ऐतरेयोप० ३१)

जो यह हृदय है, वही यह मन है। संज्ञानम् (सम्यक् ज्ञप्तिरूप चैतन्यभाव), आज्ञानम् (सब ओर से ज्ञप्तिरूप ईश्वरभाव), विज्ञानम् (लौकिक व्यवहार-ज्ञान), प्रज्ञानम् (तात्कालिक भावरूप-ज्ञान), मेधा (अर्थ धारण की शक्तिवाला ज्ञान); दृष्टिः (इन्द्रियभव ज्ञान), धृतिः (धारण करने की मानस-शक्ति), मतिः (विचार-शक्ति), मनीषा (मानसिक स्वतन्त्रता), जूतिः (चित्त के रोगादि से दुःखित होने की शक्ति), स्मृतिः (स्मरण-शक्ति), संकल्पः (निश्चय मानसिक कल्पना द्वारा), क्रतुः (निश्चय करने का ज्ञान), असुः (आत्म-रक्षण की ज्ञान-शक्ति), कामः (दूरस्थित वस्तु की इच्छा-शक्ति), वशः (समीपस्थ वस्तु की इच्छा-शक्ति), इस प्रकार ये सब ज्ञान के ही नाम होते हैं।

कर्तव्य-शिक्षा

८९

बृहदारण्यकोपनिषत् (अध्याय चौथा, ब्राह्मण १)

१ (२)—जब तक शिष्य को पूर्ण बोध न हो जाय, तब तक गुरु दक्षिणा न लेवे। (बृह० अ० ३)

९०

छान्दोग्योपनिषत् (प्रथम प्रपाठक, नवें खण्ड) में उषस्ति ऋषि ने क्षुधार्त होकर जूठा उरद खाया, क्योंकि शुद्ध भोजन अप्राप्य था, किन्तु जूठा जल न पिया, क्योंकि शुद्ध जल प्राप्य था।

६१

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशोप० २)

मनुष्य संसार में निश्चय-पूर्वक कामों को करता हुआ सौ वर्ष जीना चाहे। इसी प्रकार, इसके सिवा दूसरी प्रकार नहीं, मनुष्य में काम नहीं चिपटता है।

६२

तैत्तिरीयोपनिषत् (प्रथम वल्ली, ग्यारहवाँ अनुवाक्) के मूल का अन्वय इस प्रकार है—

आचार्यः अंतेवासिनम् (शिष्य को) वेदम् अनूच्य (वेद पढ़ाकर) अनुशास्ति (शिक्षा देता है)। हे शिष्य, त्वं सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायात् मा प्रमदा (वेद-पाठ से भूल मत कर) आचार्य्याय धनं आहृत्य (आचार्य्य को गुरु-दक्षिणा देकर) प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः (सन्तान-रूपी तागे को मत तोड़ (अर्थात् गृहस्थ बनकर पुत्रोत्पादन कर), सत्यात्प्रमदितव्यं न (सत्य से भूल मत कर), धर्मात्प्रमदितव्यं न, कुशलात् (देह-रक्षण से) प्रमदितव्यं न, भूत्यै (सम्पत्ति के लिये) प्रमदितव्यं न, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां (वेद पढ़ने-पढ़ाने से) प्रमदितव्यं न, देवपितृकार्य्याभ्यां प्रमदितव्यं न। हे शिष्य! त्वं मातृदेवः (माता को देवता समान माननेवाला) भव, पितृदेवः भव, आचार्य्यदेवः भव, अतिथिदेवः भव, यानि अनवद्यानि (अनिन्दितानि) कर्माणि तानि त्वया सेवितव्यानि, इतराणि (अनिन्दित से इतर) नो, च यानि अस्माकम् (हम लोगों के) सुचरितानि, तानि त्वया उपास्यानि (दृढ़ता-पूर्वक करणीय), इतराणि त्वया नो च (और) ये के ब्राह्मणाः (जो कोई ब्राह्मण लोग) अस्मच्छ्रेयांसः (हमसे श्रेष्ठ हैं), तेषाम् आसनेन त्वया प्रश्वसितव्यं (ख़ातिर करने योग्य), श्रद्धया देयं अश्रद्धया देयं, श्रिया (अपने धनानुसार) देयं, ह्रिया (लज्जा के साथ) देयं, भिया (भय के साथ) देयं, संविदा (मित्र के काम में) देयं। अथ यदि ते (जब कभी तुमको) कर्म-विचिकित्सा (सन्देह) वृत्ति (जीविका) विचिकित्सा स्यात् (होवे), तदा तत्र ये (जो)

सम्मर्शिनः (विचारवान्), युक्ताः (लौकिक कर्म-युक्त), आयुक्ताः (शास्त्रोक्त कर्म-युक्त), अलूक्षाः (न क्रूर बुद्धिवाले) धर्मकामाः ब्राह्मणाः स्युः (होवें), ते यथा तत्र वर्त्तेरन् (बर्ताव करें), तत्र त्वम् अपि तथा वर्त्तेथाः, अथ तत्र (और तब) अभ्याख्यातेषु (अति प्रसिद्ध लोगों विषे) ये ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्तः आयुक्ताः धर्मकामाः स्युः ते यथा तेषु वर्त्तेरन् तथा त्वम् अपितेषु वर्त्तेथाः। एषः आदेशः (आज्ञा), एषः उपदेशः एषा वेदोपनिषत् (वेद का गोप्य अर्थ), एतत् अनुशासनम् (अनुमति), एवं उपासितव्यं च (और) उ (निश्चय करके) एवम् (इस प्रकार) उपास्यम् (आराध्य)। (ब्राह्मण-पद उस काल कुछ-कुछ कर्मज था, सो उपदेशक के अर्थ में यहाँ उसकी महिमा है, जाति के रूप में नहीं।)

६३

तैत्तिरीयोपनिषत् (प्रथम वल्ली, नवम अनुवाक्) ऋत (वेद के सूक्ष्म अर्थ का विचार), सत्य, स्वाध्याय (वेद पढ़ना), प्रवचन (वेद पढ़ाना), तप, दम (इन्द्रिय-निग्रह), शम (मन-निग्रह), अग्नयः (अग्नि धारण करना), अग्निहोत्र, अतिथयः (अभ्यागत-पूजन), मानुष (विवाहादि लौकिक व्यवहार), प्रजा (संतति) प्रजन (सन्तानोत्पादन) और प्रजाति (सन्तान ही के निमित्त विवाह करना), इन सब वेद-विहित कर्मों का करना अवश्य करणीय मानता है। रथीतर गोत्र में उत्पन्न सत्यवचा तथा पौरुशिष्ट (पुरुशिष्ट-गोत्र-भव) सत्य को श्रेष्ठ मानते हैं।

६४

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ (ई० १५)

सत्य का मुख सोने के बर्तन से ढका हुआ है। हे उन्नति चाहनेवाले! सत्य धर्म दिखाने के लिये तू उसे खोल।

६५

सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ (मुण्डकोप० ४६)

सत्य ही जीतता है न कि मिथ्यात्व, सत्य से देवतों का मार्ग फैला हुआ है; जिस (मार्ग) से उद्देशों की सफलता प्राप्त किए हुए ऋषिगण उत्साह से गमन करते हैं, जहाँ उस (सत्य) की अन्तिम सीमा है।

९६

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ (अ० ३, सं० ४, गीता)

केवल कर्मों के छोड़ने से मनुष्य अकर्मी के (ऊँचे) पद को नहीं पा सकता, और न केवल संन्यास (कर्म-त्याग) से सिद्धि भली भाँति आ सकती है।

९७

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।

कार्य्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (अ० ३, सं० ५, गीता)

कोई मनुष्य निश्चय-पूर्वक एक क्षण भी बिना काम किए नहीं रह सकता, और प्रकृतिभव गुण उससे अवश्य काम कराते हैं। (प्रयोजन यह है कि उसके न चाहते हुए भी पाचन, रुधिर-संचालनादि प्राकृतिक कर्म हुआ ही करते हैं।)

९८

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (अ० ३, सं० २७, गीता)

सब कर्म प्रकृति के गुणों से हुआ करते हैं, किन्तु अहंकार से मूर्ख बनी हुई आत्मा अपने को कर्ता मानती है।

९९

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥ (अ० ३, सं० २९, गीता)

प्रकृति के गुणों को न जानते हुए प्राणी कर्मों के गुणों में लिप्त हो जाते हैं। ऐसे पूरा ज्ञान न रखनेवाले मूर्खों को ज्ञानी पुरुष (उनके विश्वासों से) बहुत न हिलावे। प्रयोजन यह है कि विशेषज्ञ स्वल्पज्ञों को थोड़ा बहुत शिक्षण देवे, किन्तु इतना नहीं कि वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जावें।

१००

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।

तयोर्नवशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (अ० ३, सं० ३४ गीता)

इन्द्रियों के अर्थों में उन्हें प्रीति और शत्रुतायें रहती हैं। प्राणी उनके वश में न जावे, क्योंकि वे इसके शत्रु हैं। (प्रयोजन यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय को अनेकानेक वस्तुओं से सुख-दुख प्राप्त होते हैं, और इन्हीं से उनका अनुराग-विराग है। ज्ञानी पुरुष को इन्द्रियों के इन अर्थों के वश में न जाना चाहिए।)

१०१

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।

निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ (अ० ५, सं० ३, गीता)

हे महाबाहो ! उसी को सदा संन्यासी समझना चाहिए, जो न शत्रुता करता है, न इच्छा। इस जोड़े से मुक्त मनुष्य आराम से संसार के बंधन से छूटता है।

१०२

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ (अ० ५, सं० १४, गीता)

ईश्वर न तो कर्तापन बनाता है, न कर्मों या उनके फलों के मेल को, वरन् (संसार में यह सब) आपसे आप होता है।

१०३

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (अ० ५, सं० १८, गीता)

पंडित लोग विद्या-विनय-युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और कुत्ता खानेवाले चांडाल को एक ही दृष्टि से देखते अर्थात् बराबर मानते हैं।

१०४

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ (अ० ६, सं० १, गीता)

कर्म-फल का सहारा न लेकर जो (मनुष्य) काम करता है, वही संन्यासी और योगी है, न कि अग्निहोत्र का त्यागी या अक्रिय पुरुष। (यहाँ कर्तव्य-परायण पुरुष के सामने निरग्नि तथा कर्मत्यागियों की निन्दा है। यहाँ तथा ऊपरवाले श्लोक में भगवान् बादरायण ने बौद्ध-मत के अनिन्दित विचारों का मान किया है, ऐसा समझ पड़ता है, किन्तु उनकी अक्रिय शाखा की निन्दा भी की है।)

१०५-१०६

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्मप्राहुर्मनीपिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ (अ० १८, सं० ३, गीता)
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्। (अ० १८, सं० ६, गीता)

कुछ बुद्धिमान् कहते हैं कि दोष के समान कर्म छोड़ने योग्य है (अर्थात् कर्म दोष अवश्य है, सो कर्म ही त्याज्य है), तथा अन्य लोग कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप के कर्म त्याज्य नहीं हैं। हे पार्थ! मेरा निश्चित एवं उत्तम सिद्धांत यह है कि ये (यज्ञ, दान, तप) कर्म भी आसक्ति और फलाशा छोड़कर करने चाहिए।

१०७-१०८

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ (अ० १८, सं० ७, गीता)
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ (अ० १८, सं० ११, गीता)

मनुष्य को कर्तव्य का त्याग योग्य नहीं है। मोह-वश उसका त्याग तामस-कर्म है। देहधारी पुरुषों द्वारा सब-के-सब काम छोड़े जाना असंभव है। जो कर्म के फल (की इच्छा) छोड़ता है, वही त्यागी है।

१०९

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ (अ० १८, सं० ५७, गीता)

चित्त से सर्व कर्मों को मुझमें छोड़कर, मुझमें चित्त लगाकर, बुद्धियोग का सहारा लेकर, सदैव मेरी ओर चित्त रखनेवाले होओ।

११०

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥ (अ० २, सं० ५०, गीता)

बुद्धिमान् (निष्काम कर्मी) पुरुष (फल के लिये) पुण्य और पाप दोनों कामों को छोड़ देते हैं; अतएव तुम योग में लगो, (क्योंकि) कर्मों में कुशलता (कर्तव्य-पालन) ही योग है।

१११-११२

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (अ० ३, सं० १६, गीता)
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥ (अ० ३, सं० १७, गीता)

इस प्रकार चलाए हुए (संसार) चक्र को जो इन्द्रियों में रमा हुआ पाप-पूर्ण आयुवाला मनुष्य आगे नहीं चलाता (संसार-परिचालन में सहायता नहीं करता), वह व्यर्थ जीता है, किन्तु जिसे आत्मा ही में रति है, आत्मा ही में तृप्ति एवं संतोष है, उसके लिये कोई कार्य नहीं है।

११३

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (अ० ६, सं० ३५, गीता)

हे कुन्तीपुत्र महाबाहु (बलवान्), निश्चय मन चल तथा कठिनता से वश में आने के योग्य है, (किन्तु) अभ्यास तथा वैराग्य से पकड़ा जा सकता है।

११४

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ (अ० ६, सं० २६, गीता)

अस्थिर, चंचल मन जिधर-जिधर जावे, उधर-उधर से नियंत्रित करके अपने ही वश में लावे।

११५-११६

प्राप्य पुण्यकृतांल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ (अ० ६, सं० ४१, गीता)
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ (अ० ६, सं० ४२, गीता)

योग-भ्रष्ट महात्मा अपने पुण्य किए हुए लोकों को प्राप्त होकर और वहाँ बहुत समय तक वास करके (पृथ्वी पर) पवित्र धनवानों के घर जन्म लेता है, या जो जन्म इस संसार में बहुत दुलर्भ है, वह (जन्म) बुद्धिमान् योगियों के कुल में धारण करता है।

११७

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ (अ० ४, सं० २८, गीता)

कोई वस्तु द्वारा (आहुति इत्यादि करके) यज्ञ करते हैं, कोई तप द्वारा, अपर लोग योग, स्वाध्याय, ज्ञान द्वारा या कोई सन्त लोग कठोर व्रत द्वारा यज्ञ करते हैं; ये सारे के सारे कर्म यज्ञ ही हैं।

११८

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (अ० २, सं० ५६, गीता)

स्थित-प्रज्ञ मुनि उसे कहते हैं, जो दुःखों से घबराता नहीं, सुखों की लालसा नहीं करता, तथा जिसके डर, क्रोध और अनुरक्ति समाप्त हो चुके हैं।

११९

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (अ० २, सं ६९, गीता)

जिन वस्तुओं के लिये सारे प्राणी सुप्त हैं, उनके लिये संयमी पुरुष जागता है, और जिनके लिये संसार जागरूक है, उनके लिये वास्तविक द्रष्टा मुनि रात के समान सुप्त है।

१२०

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति ते॥ (अ० १४, सं० २, गी०

इस ज्ञान का सहारा लेकर जो मेरे से धर्म में आ गए हैं (अर्थात् संसार से अलिप्त हो गए हैं), वे सृष्टि के प्रारम्भ में भी न उत्पन्न होते, न प्रलय पीड़ा पाते हैं।

१२१ परिणाम

धार्मिक विचार दो प्रकार के होते हैं, अर्थात् एक मुख्यतया तर्कात्मक (निर्गुणवाद) और द्वितीय मुख्यतया विश्वासात्मक (सगुणवाद)। संहिता का धर्म साहित्यात्मक था, उपनिषदों का निर्गुण ब्रह्म-विचार विशेषतया तर्कात्मक, और बौद्ध-धर्म आचारात्मक। तर्कात्मक धर्म परम सत्य होकर भी पथ्य भोजन की भाँति सूखा अथच साधारण लोगों को अरुचिकर होता है, तथा सगुणवाद अपथ्य भोजन की भाँति साधारण जन-समुदाय को पसंद है। जब निर्गुणवाद अपनी शुष्कता के कारण संसार में गिरसा गया, और आचारात्मक हीनयानीय बौद्धधर्म चला, तब बादरायण व्यास ने श्रीभगवद्गीता में साहित्य, तर्क, विश्वास और आचार को मिलाकर लोकमान्य धर्म चलाया। गीताने सगुणवाद का आधिक्य न करके बड़ा उत्कृष्ट जनता द्वारा ग्राह्य यथासाध्य तर्काश्रित धर्म निकाला। आगे चलकर लोकस्वीकृति ग्रहण करने को आचारात्मक हीनयानीय बौद्ध-धर्म महायान में परिणत होकर मुख्यतया विश्वासात्मक हो गया। इधर पौराणिक हिंदू-धर्म शकों, यवनों, तुर्कों, हूणों, बौद्धों आदि को समेटने में जनता की उन्नति के अनुसार अधिकाधिक विश्वासात्मक और मोटिया होता गया, यहाँ तक कि स्वामी शंकराचार्य को फिर से तर्कवाद जाग्रत् करना पड़ा। उनका नाम तो समाज में बहुत हुआ, किंतु तर्कवाद फिर न चला, वरन् नाथ-संप्रदाय ने कामुक धर्म चलाया, रामानुजाचार्य ने तर्क और भक्ति को मिलाकर उपदेश दिए, तथा रामानंद और तुलसीदास ने तर्क तजकर समाज संगठनार्थ केवल विश्वासात्मक भक्तिवाद चलाया। अब विवेकवाद आता हुआ देख पड़ता है।